

अमृता प्रीतम पंजाब की काव्य-कोकिला हैं। साहित्य अकादेमी और पंजाब भाषा-विभाग द्वारा उन्हें पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है।

अमृता प्रीतम के गीत, कहानियां और उपन्यास, सभी रचनाएं रोमांटिक भावनाओं से भरपूर होती हैं। प्रेम की पोर का चित्रण करने में अमृता प्रीतम को विशेष सफलता मिली है।

प्रस्तुत पुस्तक में अमृता प्रीतम का एक नया लघु उपन्यास और पांच कहानियां संग्रहीत हैं।

कसक

अमृता प्रीतम





मूल्य : एक रुपया

प्रकाशक : हिन्द पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटिड
जी० टी० रोड, शाहदरा, दिल्ली
मुद्रक : शिक्षा भारती प्रेस, शाहदरा, दिल्ली

KASAK : AMRITA PRITAM : NOVEL & SHORT STORIES

कसक

क्रम

बुलावा

जैनिव वीवी कमीज़ के घेरे की कच्ची सिलाई कर चुकी थी। अब सिर्फ मशीन की सिलाई बाकी रह गई थी। 'कमीज़ के पांच आने और पाजामे के दो आने,' उसने हिसाव लगाया, 'आज सात आने ज़रूर वन जाएंगे।' फिर हाथ की सुई को धागे की गोली में खोंसकर उसने आवाज़ दी, "फैज़, उठ मेरे बेटे। मुंह पर पानी के छींटे मार और तैयार हो जा। आज तेरा मामा तुझे काम पर ले जाएगा।"

"और भाभी, आज मैं मसीत में न जाऊं?" छः साल का फैज़ मुजद्दद खटिया पर से हड़बड़ाकर उठ वैठा।

जैनिव वीवी ने एक आह भरी। वेटे के चेहरे की तरफ देखने की उसमें ताव नहीं थी। उसकी आह कह रही थी, 'मैं कसूरवार हूं कि तुझे मसीत जाने से हटा लिया है। पर मैं क्या करूं?' ऊंची आवाज़ में उसने सिर्फ यही कहा, "तेरा मामा कहता है, तुझे महीने के आठ रुपये मिल जाया करेंगे।"

फकीरों के तकिये की मसजिद एक वार फैज़ की आंखों के सामने आई और फिर उसने मुंह पर पानी के छींटे मारकर उस मसजिद को अपनी आंखों के सामने से एक तरफ हटा दिया।

"यह रंगसाज़ी का काम कुछ नहीं है फैज। सुवह तू मुंह-अन्धेरे चला जाता है और दीया जलने पर लौटता है। फिर मिट्टी के तेल से तेरे जिस्म पर से रंग उतारते हुए मेरे तो हाथ भी थक जाते हैं।" एक रात जैनिव वीवी ने अपने वेटे को नहलाते हुए कहा।

"भाभी, अब तो मैं ट्रंकों पर बहुत अच्छे फूल बना लेता हूं।" फ़ैज़ ने अपने शरीर को एक मोटे कपड़े से पोंछते हुए कहा।

"ठीक है, पर दो साल होने को आए हैं, रुपये तो महीने के आठ ही मिलते हैं न।" मां ने कोने में पड़ा हुआ साबुन का टुकड़ा उठाकर अपने हाथ धोए।

"दोपहर का खाना भी वे खिला देते हैं।" फ़ैज़ ने कुर्ता पहना और अपनी छोटी बहिन साजी को उठा लिया।

"ठीक है, पर रोज़ रात को मिट्टी के तेल से नहाना तो ठीक नहीं।...मैंने बात की है किसीसे, तू खुशनवीसी का काम सीख ले।"

"कितने पैसे मिलेंगे ?" फ़ैज़ ने झट पूछा।

"पगले, कभी काम सीखने के भी पैसे मिले हैं ? तू पहले कुछ देर सीख, फिर वक्त आने पर तुझे पैसे मिलने लग जाएंगे।"

"पर तुम कैसे गुज़ारा करोगी भाभी ? तुम्हें सीने के लिए कपड़े भी तो रोज़ नहीं मिलते !"

"मैंने दो घरों से बात कर ली है। उनके बर्तन साफ कर दिया करूंगी। तू काम सीख ले।" ज़ैनिब बीबी के अन्दर से एक आह उठी, पर उसने मुंह फिरा लिया—कहीं उसका बेटा इस आह से डगमगा न जाए।

खुशनवीसी सीखने के लिए फ़ैज़ को अपने घर भाटी दरवाज़े से दिल्ली दरवाज़े जाना पड़ता था। वह पूरे दिन की हाज़िरी देता और खाली हाथ घर लौटता तो उसकी टांगें जवाब दे रही होतीं।

एक दिन वह मुंह-अंधेरे उठ बैठा। दिल्ली दरवाज़े जाने की बजाय वह गवालमण्डी की ओर चल पड़ा। सब्ज़ीमण्डी में सब्ज़ियों की गाड़ियां खड़ी थीं। सौदे हो रहे थे। टोकरे भरे जा रहे थे।

कभी कोई आलू, कभी कोई प्याज़, कभी कोई टिंडा लुढ़कता हुआ दूर चला जाता। फ़ैज़ ने देखा, दूसरी सब्ज़ियों के मुकाबिले में ये गोल चीज़ें ज़रूर लुढ़क जाती थीं। उसने दौड़कर वे आलू, प्याज़

और टिंडे उठा लिए।

बाज़ार में सब्ज़ियों की छोटी-छोटी ढेरियां लगाकर कुछ औरतें बैठी हुई थीं। कुछ दूर पर एक इमारत बन रही थी। काम पर जाने-वाली मज़दूरिनों ने वहां सस्ती सब्ज़ी लेने के लिए एक भीड़ लगाई हुई थी। फैज़ ने भी अपने गिनती के आलू, प्याज़ और टिंडों की एक छोटी-सी ढेरी लगा दी, और अपनी तहमद को ज़रा-सा ऊपर उठा-कर पांवों के बल बैठ गया।

कुछ ही देर में फैज़ ने अढ़ाई आने बना लिए। अब जब वह दिल्ली दरवाज़े की ओर चला तो उसके पांव जैसे उड़ रहे थे।

किसी दिन दो आने, किसी दिन अढ़ाई आने—यह फैज़ की रोज़ की आमदनी बन गई।

जहां वह खुशनवीसी का काम सीखता था, वह एक रोज़ाना अखबार का दफ्तर था। एक दिन शाम को फैज़ ने सोचा, अगर वह अखबार की आठ कापियां खरीद ले तो तीन पैसे की उसे एक कापी पड़ेगी और चार पैसे की बिक जाएगी। पूरे आठ पैसे उसे बच जाएंगे। उसने सब्ज़ी बेचकर जमा किए हुए पैसों से 'सियासत' अखबार की आठ कापियां खरीद लीं।

"ताज़ा पर्चा आ गया, सियासत का पर्चा।" पहले एक बाज़ार में, फिर दूसरे बाज़ार में खड़ा होकर उसने आवाज़ें लगाईं।

चार कापियां बिक गईं, पर अभी तक बाकी चार उसके हाथ में थीं। बाज़ारों में से वह गुज़र रहा था और आवाज़ें लगाता जा रहा था। शाम हो चली थी, पर बची हुई कापियां अभी भी उसके हाथ में पकड़ी हुई थीं।

हीरामण्डी में से गुज़रते हुए उसे एक आदमी ने कहा, "मुझे रोज़ दे जाया कर एक अखबार।" यह बात उसे एक और व्यक्ति ने चौक झण्डा में भी कही थी। 'कहां चौक झंडा और कहां हीरा-मण्डी, पर दो ग्राहक मेरे पक्के बन गए। रोज़ के दो पैसे पक्के।'

फैज़ ने सोचा।

'पर अगर ये बची हुई अखबारें न बिकीं तो···?' फैज ने हिसाब लगाया, 'तो छः पैसे जेब से देने पड़ जाएंगे।'

शाम गहरी होती जा रही थी। फिर फैज़ ने अनारकली के चौक में खड़े होकर बची हुई कापियां तीन-तीन पैसे में ही बेच दीं।

"ताज़ा पर्चा आ गया, सियासत का ताज़ा पर्चा।" हीरामण्डी में खड़े होकर फैज़ ने आवाज़ लगाई। और फिर उसकी आवाज़ उसके गले में ही फंस गई। एक मकान में से गाने की आवाज़ आ रही थी :

यह दुआ है आतिशे इश्क में
तू मेरी तरह जला करे
न नसीब हो तुझे बैठना
तेरे दिल में दर्द उठा करे

कार्तिक का महीना देखते-देखते मगहर बनता जा रहा था। एक ठंडक फैज़ के पांवों में से गुज़रकर उसके शरीर में समा गई। और ठंडक की सिहरन जैसा एक खयाल उसके मन में से गुज़रा, 'मेरे वालिद की गज़ल···यह मेरे वालिद की गज़ल है···और शायद मेरे वालिद साहिब भी अन्दर बैठे हों।···यह गानेवाली शायद उनकी गज़ल को उनके सामने बैठकर गा रही हो।···'

फैज़ का वालिद शहर में ही रहता था। कटरा बलीशाह में। यद्यपि फैज़ पांच साल का था, जब उसकी मां उसे और अपनी नन्ही-सी बेटी सराज को लेकर अपने भाई के घर भाटी दरवाज़े आ गई थी, पर फैज़ को अपने वालिद का घर अच्छी तरह याद था। वे कई गज़लें भी उसे याद थीं जो उसके वालिद की लिखी हुई थीं।

'मेरी मां का कसूर?' फैज़ ने सोचा। उसकी उम्र बचपन की थी, पर उसके विचारों पर जवानी चढ़ने लग गई थी। 'सिर्फ यह कि वह मामूली से नैन-नक्शोंवाली औरत है।' फैज़ के होंठ सिकुड़े, 'वह मेरे वालिद के रंगीन खयालों पर पूरी नहीं उतरी।'

'वलायत वेगम···' फ़ैज़ अखवारें वेचना भूल गया। वह सोचने लगा, 'कहते हैं वह बहुत अच्छा गाती है। और मेरे वालिद साहिव उसके लिए ग़ज़लें लिखते हैं।' ये वातें सुनी-सुनाई थीं, पर फ़ैज़ को यह पता था कि वह वलायत वेगम ईदवाले दिन मीठी चीज़ें और वकरीदवाले दिन नमकीन चीज़ें उनके घर ज़रूर भेजा करती थी और उसके वालिद साहिव अपनी गज़ल में वलायत बेगम का नाम लिखा करते थे।

सामने मकान में से अभी भी आवाज़ आ रही थी:

यह दुआ है आतिशे इश्क में
तू मेरी तरह जला करे
न नसीब हो तुझे बैठना
तेरे दिल में दर्द उठा करे

फ़ैज़ के कण्ठ में जितना ज़ोर था, उसने लगा दिया, "ताज़ा पर्चा आ गया—सियासत का ताज़ा पर्चा।" वह शायद सोच रहा था, 'देखता हूं, गज़ल का तरन्नुम ऊंचा उठता है कि अखवार की आवाज़।'

कल अनारकली के चौक में उसने अपनी वची हुई अखवारें फिर तीन-तीन पैसों में वेच दी थीं। और पास खड़े हुए, अखवार वेचनेवाले पूरविये उससे लड़ पड़े थे।

आज यद्यपि शाम गहरी हो गई थी, पर पूरवियों से लड़ाई के डर से फ़ैज़ चौक में न गया। आज उसने निश्चय किया हुआ था, चाहे कितनी देर हो जाए, पर आज वह सारी अखवारें पूरी कीमत पर ही वेचेगा।

'ताज़ा पर्चा आ गया, सियासत का ताज़ा पर्चा' की आवाज़ लगाते हुए फ़ैज़ ने उन दिनों चल रहे कत्ल के एक मशहूर मुकद्दमे की सुर्खी पढ़ी।

उसके हाथ में अखवार एक झंडे की तरह झूल रही थी। उसकी आवाज़ में कत्ल के मुकद्दमे का हाल था। तेज़-तेज़ चलते उसके

पैर अचानक रुक गए—सामने दूर काली शेरवानी पहने उसके वालिद साहिब आ रहे थे।

'इस बाज़ार हीरामण्डी में मेरे वालिद का इतना नाम है। हर गानेवाली उनका नाम जानती है।—ताज साहिब! हर गानेवाली उनसे नई गज़ल लेने के लिए उन्हें सलाम करती है। यहां मुझे··· अपने बेटे को वे अखबारें बेचते हुए देखेंगे···उनकी इज़्ज़त को ठोकर लगेगी···नहीं···नहीं···,' फैज़ ने सोचा, 'मैं कहीं छिप जाऊं।'

जल्दी से उसने दोनों तरफ देखा। सड़क का दामन खुला था, कहीं छिपने की जगह नहीं थी। उसका और उसके वालिद का फासला कम हो रहा था। बायें हाथ सड़क के किनारे पटरी पर बिजली का एक खम्भा नज़दीक था। फैज़ झट उस खम्भे के पीछे हो गया। खम्भे की ओट काफी नहीं थी। पर ज्यों-ज्यों उसका वालिद नज़-दीक आता गया, वह पांवों को सरकाता हुआ छिपने की कोशिश करता रहा।···और फिर उसने सन्तोष की सांस ली, उसके वालिद ने उसे देखा नहीं था।

वालिद साहिब एक मकान की सीढ़ियां चढ़ गए और फैज़ खम्भे की ओट छोड़कर खुली सड़क पर चल पड़ा। उसके दायें हाथ में अखबार झंडे की तरह झूल रही थी और उसकी आवाज़ में कत्ल के मुकद्दमे का हाल था।

बकरमण्डी में से निकलकर फैज़ ने देखा, व्यापारी अपने-अपने माल पर निशानियां लगा रहे थे। कोई अपनी भेड़ों के माथे पर लाल रंग लगा देता, कोई अपनी भेड़ों के शरीर पर गोल निशान लगा देता और कोई अपनी भेड़ों की ऊन में से थोड़े से बाल काट देता।

भेड़ों की ऊन कई जगह पर गिरी हुई थी। फैज़ ने हाथ की अख-बारों की ओर देखा और फिर आगे बढ़ता हुआ आवाज़ लगाने लगा, "ताज़ा पर्चा आ गया।···"

जब काफी अंधेरा हो गया तो फैज़ के पांव बकरमण्डी की ओर

मुड़े। भेड़ें वाड़ों में चली गई थीं और उनके स्थान पर उनकी ऊन पड़ी हुई थी।

जिस तरह कोई हाथ से गोबर इकट्ठा करता है या रेल की पटरी पर से कोयले बीनता है, फ़ैज़ ने भेड़ों के बाल इकट्ठे कर लिए।

"भाभी, यह तुम कात लोगी ?" रात को घर जाकर फ़ैज़ ने भेड़ों की सारी ऊन मां के आगे रख दी।

दूसरे दिन मां ने दो चरखे चलाए। एक प्राणों का चरखा और एक लकड़ी का। मन के चरखे पर दुःखों का सूत काता और लकड़ी के चरखे पर ऊन का सूत काता। फ़ैज़ के कान दोनों चरखों की गूंज सुन रहे थे।

२

"उस्तादजी !" दरवाज़े के बाहर से आवाज़ आई।

"देख तो फ़ैज़। कौन है बाहर ? मुझे तो ताज साहिब लगते हैं, तेरे वालिद साहिब !" उस्ताद गुलामफरीद ने हाथ से कलम एक तरफ रख दी और अपने शागिर्द की तरफ देखा।

"कहां हैं, उस्तादजी?" ताज साहिब दहलीज़ से अंदर आ गए थे।

"आइए, आइए, ताज साहिब।" उस्तादजी ने दायें हाथ पड़े हुए तकिये को आगे किया और फिर कहा, "यह फ़ैज़ है, फ़ैज़ मुजद्दद अपना बेटा।"

ताज साहिब ने फ़ैज़ के मुंह की ओर देखा, और फिर कितनी देर तक देखते रहे। हाथों में एक संकोच था। फिर अंदर से खून में एक उबाल आया। अनायास हाथों में हरकत आ गई। उन्होंने फ़ैज़ की पीठ थपथपाई।

"बहुत सयाना बेटा है, बहुत होनहार।" उस्ताद गुलामफरीद ने कहा। फिर उसे लगा शायद ताज साहिब ने उसकी बात नहीं सुनी

थी। उनकी आंखें अभी तक बेटे के चेहरे की तरफ लगी हुई थीं। उसने फिर कहा, "कोई दो साल यह मेरे पास सियासत के दफ्तर में भी बैठता रहा है। फिर जब मैं यहां अपनी बैठक में ही काम करने लग गया, यह भी मेरे साथ ही आ गया। अब तो अच्छी मुहारत हो गई है। हाथ बहुत साफ हो गया है। देखिए तो कैसा खुशखत लिखता है।" और फिर उसे एक और बात याद आ गई। कहने लगा, "पहले-पहले तो बरकतअली को नुक्तेवाले काफ् से लिख देता था, अब तो इसके हिज्जे बहुत अच्छे हो गए हैं।" और फिर उस्ताद ने साथ ही यह भी कहा, "अब तो पन्द्रह-बीस रुपये भी महीने के कमा लेता है।"

ताज साहिब बैठ गए। तकिये के साथ टेक लगाई और कहने लगे, "बात यह है, उस्तादजी, कि मुझे एक हफ्तावारी पर्चा निकालना है और यह किताबतवाला काम आपको करना होगा। यह काम मैं किसी और से नहीं करवाना चाहता।"

"मालिक हैं आप। जैसे कहें।"

"फिर बात पक्की हुई?"

"आपका कहना हम पलट सकते हैं ताज साहिब!"

ताज साहिब उठे। उनकी आंखें फिर बेटे के चेहरे को देखने लग गईं। कहने लगे, "इसे अपने साथ ही ले आना उस्तादजी।"

"जैसा कहें।"

"यह वहीं रहेगा।" ताज साहिब ने कहा और कमरे में से बाहर जाने लगे।

"तू आ जाएगा न?" दहलीज़ के पास पहुंचकर वे रुक गए।

फैज ने हामी न भरी। इंकार भी न किया। ताज साहिब मिनट-भर और खड़े रहे, फिर कहने लगे, "अपनी वालिदा को भी साथ ले आना।" फिर उन्होंने उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की। कमरे में से बाहर चले गए।

"तेरा कहा मैं मान लेती फ़ैज़ ! पर…"

"अगर भाभी तुम्हारा दिल नहीं करता तो न सही।…"

"यह वात नहीं फ़ैज़ ! यह तो पता नहीं मेरी कौन-सी किस्मत है जो तेरे वालिद ने मुझे याद किया है।…पर…डरती हूं, यह मेरी किस्मत फिर मेरे साथ कोई धोखा कर जाएगी।" ज़ैनिव वीवी ने कहा, पर एक आह भरकर अपने कपड़े आदि सम्भाल लिए और अपनी वेटी सराज को गोद में उठा लिया।

ताज साहिव के मकान का रंग ही वदल गया। वाहर की वड़ी वैठक एक हफ्ता वाद अखवार का दफ्तर वन गई और अन्दर के छोटे दो कमरे घर वन गए। वाहर फ़ैज़ अपने उस्ताद के साथ मिलकर कितावत करता और अन्दर ज़ैनिव वीवी घर के काम में लगी रहती।

"…डरती हूं, यह मेरी किस्मत फिर मेरे साथ कोई धोखा कर जाएगी।" कुछ ही महीनों में ज़ैनिव वीवी का यह डर सच हो गया। ताज साहिव पिछले पंद्रह दिन से अलीपुर गए हुए थे—उर्स के मेले पर। वे जव लौटे तो उनके साथ एक और औरत थी।

पिछले कुछ दिनों से ताज साहिव का एक दोस्त इस शहर में आया हुआ था। कभी किसी समय वह ताज साहिव की वैठक में भी आ जाया करता था। एक दिन आया तो ताज साहिव कहीं वाहर गए हुए थे। उसने हाथ में पेन्सिल पकड़ी और सामने पड़े हुए एक खाली कागज़ पर एक औरत का स्केच वना दिया। यह औरत का प्रोफाइल था—उसका एक पक्ष।

फ़ैज़ ने देखा और देखता ही रह गया। 'दो-तीन मिनट लकीरें खींचीं और ऐसी शक्ल वन गई।' आज उसके मन के पानी में एक लहर उठी।

वालिद साहिव का वह दोस्त चला गया। जाते समय उस कागज़ को वहीं छोड़ गया जैसे यह कोई इतनी वड़ी वात नहीं थी। फ़ैज़ ने हैरान होकर वह कागज़ उठा लिया और फिर किसी पुस्तक में संभाल-

कर रख दिया ताकि उसे वल न पड़ जाए।

अपने एकांत में उसने वह कागज़ निकाला। उसे देखता रहा, देखता रहा। और फिर उसने एक पतला कागज़ उसपर रखकर उसे ट्रेस कर लिया। एक बार ट्रेस किया, दो बार किया, कई बार किया। और फिर उसका मन चाहा, वह ट्रेस न करे, उसकी ओर देख-देखकर खुद बनाए।

"मैंने तुझे कहा था न फैज़!" ज़ैनिव बीवी ने एक दिन आंखें भर लीं।

"हां, भाभी!" फैज़ कुछ कहने लायक नहीं था।

"इस घर में मेरा दाना-पानी ज़्यादा देर के लिए नहीं है।"

"फिर चलो भाटी दरवाज़े, मामा के घर चले जाते हैं।"

"तुझे तकलीफ तो नहीं होगी?"

"मुझे भला क्या तकलीफ होगी? अब मैं तुम्हें किसीके घर काम भी नहीं करने दूंगा। मैं महीने के वीस रुपये तो ज़रूर बना लूंगा।"

ज़ैनिव बीवी ने फिर अपने वही कपड़े आदि सम्भाल लिए जो वह भाटी दरवाज़े से आते समय अपने साथ लाई थी। कटरा वलीशाह से चलते समय फैज़ के हाथ में वह कागज़ था जिसे वह कई दिन से सामने रखकर देखता रहता था और उसी जैसा चित्र बनाता रहता था।

अब ज़ैनिव बीवी ने लोगों के घरों में वर्तन साफ करने छोड़ दिए थे। अगर किसीका गोटा-किनारी लगाना होता, वह लगा देती। वह बहुत सुन्दर ढंग से लगाती थी। अगर पतले तिल्ले का काम करना होता, तो वह भी कर देती।

फैज़ को शेरोंवाले दरवाज़े से बाहर एक साप्ताहिक पत्रिका 'काश्मीरी' में नौकरी मिल गई थी। पन्द्रह रुपये महीना।

इन्हीं दिनों में फैज़ को एकसाथ दो इश्क हो गए थे। एक इश्क था—वह दिन के समय हाथ में पेन्सिल लेता और कागज़ पर कोई न

कोई चित्र बनाता रहता, रात के समय हाथ में चाक लेता और बन्द दुकानों के तख्तों पर कोई न कोई चित्र बनाता रहता।...दूसरा इश्क था—वह कोई भी गीत सुनता, उसके स्वर उसके अन्दर उतर जाते। फिर जहां वह बैठता, उसके होंठ हिलते रहते। वही स्वर होते, वही शब्द होते। आजकल उसे जहां भी फुरसत मिलती, एक पेन्सिल या एक चाक उसके हाथ में अनायास आ जाता। और एक गीत अनायास उसके होंठों पर कांपने लगता—"भला गरूर न कर, खाक में मिलाकर मुझे...।"

लोहारी दरवाजे के एक पुस्तक-विक्रेता ने एक दिन फैज़ का काम देखा। आजकल फैज के अंदर जैसे कुछ उभरता रहता था, कुछ लहराता रहता था। वह किताबत करता, सुन्दर से सुन्दर, पर उसे लगता उसके अन्दर का सब कुछ इन शब्दों में पूरी तरह प्रकट नहीं होता था। वह किसी सुर्खी पर बेल बना देता, किसीके साथ पौधे लगा देता।

"कहां काम करते हो बेटा?" पुस्तक-विक्रेता ने पूछा।

"हफ्तावार काश्मीरी में।"

"कितने रुपये मिलते हैं?"

"पन्द्रह।"

"मेरे यहां आओगे?...तीस रुपये दे दिया करूंगा, शुरू में। तीस रुपये तुम्हारे काम के लायक तो नहीं पर..."

'एक ही दिन में मेरी तनख्वाह दुगनी हो गई।...' फैज के मन में उग रहे फूल-पौधों पर जैसे पानी की बूंदें टपक पड़ीं।

"भाभी, भाभी!" घर जाकर फैज़ ने मां को बांहों में भर लिया। "मुझे तीस रुपये की नौकरी मिल गई है!" फैज ने बेहद खुश होकर कहा।

"सच!" मां के हाथ से सुई छूटकर गिर पड़ी।

जो फूल-पौधे फैज के मन में उगे थे, उनकी कुछ पत्तियां मां के

दिल में भी लहराने लगीं। कहने लगी, "मजार दाता गंजबख्श के पीछे तेरे मामा ने मुझे तीन मरला ज़मीन ले दी है। मुझे उम्मीद तो नहीं थी कि मैं कभी वहां कोई मकान बनाऊंगी पर···" मां ने आंचल से आंखें पोंछी और कहने लगी, "तेरी तनख्वाह तीस रुपये हो गई है, अब मैं कमेटी डालूंगी। जब कमेटी निकलेगी तो हम अपना मकान बनाना शुरू करेंगे। कुछ तेरा मामा भी हमारी मदद कर देगा।"

फ़ैज़ के दो इश्क जैसे नदी के दो किनारे थे। फ़ैज़ का सारा मन नदी के इन दो किनारों के आलिंगन में घिरा हुआ बह रहा था। पर फ़ैज़ को लगता, यह एक ही शरीर की दो बांहें हैं और वह उन दो बांहों के आलिंगन में बंधा हुआ है।

आज वह कहीं से विज्ञापन पढ़ आया था कि जालन्धर में बाबा हरिवल्लभ का मेला लगता है। वहां सारे हिन्दुस्तान के गवैये आएंगे। पूरे तीन दिन यह महफिल लगेगी। फ़ैज़ के पांव वहीं के वहीं जमे हुए थे पर उसके कान वहां से कहीं दूर चले गए। कई स्वर, कई साज़ उसके कानों में छिड़े हुए थे।

फ़ैज़ ने कुछ पैसे निकाले। कंधे पर गुलूबन्द रखा और हाथ में एक कम्बल ले लिया। वे सख्त सर्दी के दिन थे।

यह महफिल सुबह आठ बजे लगती थी। फ़ैज़ जब पहुंचा, उसे ज़्यादा देर नहीं हुई थी। पर मंडप में तिल धरने की जगह नहीं थी फ़ैज़ की टांगों में बेचैनी हो रही थी। दूर पीछे बैठना उसे अच्छा नर्ह लग रहा था। उसे लगता जैसे सभी श्रोताओं के मुकाबिले में उसक ज़्यादा हक है, आगे बैठने का। उसके कानों को सबसे ज़्यादा प्या लगी हुई थी। उसके पांव कितनी दूर से चलकर आए हैं ! पर उ लगा, लोगों को उसका यह हक पहचानने की फुरसत नहीं थी। ह किसीको अपनी-अपनी पड़ी हुई थी ताकि अच्छी जगह मिल सवे और वे अपनी जगह में से हिस्सा बंटाने के लिए तैयार नहीं थे।

वह दिन फ़ैज़ ने जैसे-तैसे करके पीछे बैठकर ही काट लिए

र दूसरी सुबह, अभी साढ़े पांच बजे थे कि उसने कानों के इर्द-गिर्द
ुलूबन्द लपेट लिया, कम्बल सिर पर ओढ़ लिया और खाली पंडाल
ं सबसे आगे जाकर बैठ गया।

सुबह आठ बजे से दोपहर एक बजे तक और शाम के आठ बजे
े रात के एक बजे तक, उसे लगा जैसे वह फूलों के एक जंगल में
ोया रहा था। हर सांस में उसने अपनी रूह में एक खुशबू भर ली।

महफिल खत्म हो गई। वह वापस अपने शहर लौट आया। पर
उसे लगा, वह जब सोता था, एक महफिल फिर से उसके सामने
लग जाती थी।

वह सोया हुआ था, महफिल लगी हुई थी। नारायणराव व्यास
गा रहा था।···फिर सूरज की धूप ने जैसे बांह पकड़कर उसे उठा
दिया।···आंखों के सामने कोई महफिल नहीं थी पर कानों में नारायण-
राव व्यास की आवाज़ उसी तरह गूंज रही थी—'राधेकृष्ण बोल
मुख से···।' अपना भ्रम मिटाने के लिए उसने अपने मुख पर ठंडे पानी
के छींटे मारे। अब वह खिड़की के पास से दूर था, आवाज़ मद्धम पड़
गई थी। फिर वह मुंह पोंछता हुआ खिड़की के पास आया। आवाज़
ऊंची हो गई।

फ़ैज़ ने भेद पा लिया। उसके पड़ोसी लाला याकूब के घर नारायण-
राव व्यास के गाने का रिकार्ड लगा हुआ था। 'मैं ग्रामोफोन
खरीदूंगा।···' उसके इश्क ने हर समय अपने प्रिय की आवाज़ सुन
सकनेवाला भेद पा लिया।

एक दिन फ़ैज़ को तीस रुपये महीना तनखाह देनेवाले ने कहा कि
ये तीस रुपये उसके काम का मोल नहीं चुकाते थे। अगर वह चाहे
तो खुशी से बाहर का काम भी कर लिया करे। और चाहे तो वह
नौकरी की बंधी हुई तनखाह छोड़ दे। वह उसे हर महीने इससे ज़्यादा
काम दे दिया करेगा।

फ़ैज़ ने ऐसा ही किया। पता नहीं कैसी मेहनत उसने अपने काम

जैनिब बीबी ने मकान बनवाना शुरू कर दिया। आजकल फैज़ लगता था जैसे उसके मन में भी एक महल बन रहा था।

उनकी बैठक के पास दो आर्टिस्टों का एक स्टूडियो था। एक का नाम था ए० आर० सरदार और दूसरे का नाम था एन० इस्माइल। एक ने अपने नाम में से ए० आर० और दूसरे ने एन० ई० लेकर स्टूडियो का नाम रखा था—'आरनी स्टूडियो'। ये दोनों आर्टिस्ट मिलकर सिनेमा के पोस्टर बनाते थे। जहां उनका कोई पोस्टर लगा होता फैज़ वहीं खड़ा हो जाता और देर तक उसे देखता रहता।

कुछ ही दिनों में मकान बन गया। जैनिब बीबी ने पानी का कोरा मटका भरा, हाथ में कुरान मजीद लिया और मकान में पांव रखा।

फैज़ ने सुना कि उसके पड़ोसी आर्टिस्ट बम्बई चले गए थे वहां कोई 'हीर रांझा' फिल्म बनाने लगा था। सुलोचना ने 'हीर' बनना था, बिलीमोरिया ने 'रांझा'। और फैज़ के पड़ोसी आर्टिस्ट में से एक ने 'कैदो' [illegible] था और एक ने 'सैदे' का।— और फैज़ ने... था, [illegible] कलकत्तेवाला को

आर्टिस्ट नहीं था। कई दिनों से फैज़ के मन में जो एक कल्पना का महल बन रहा था, फैज़ को लगा, अब उस कल्पना को सत्य बनाने का मौका आ गया था।

'खुशनवीस मेरे जैसा होगा कोई नहीं, सिर्फ ड्राइंगवाली बात मुश्किल है।' फैज़ ने सोचा और फिर उसे एक हल सूझा, 'ड्राइंग किसी आर्टिस्ट से करवा लिया करूंगा, किताबत मैं खुद करूंगा।'

फैज़ ने एक पोस्टर बनाया। दूसरा पोस्टर बनाया और फिर उसे कई पोस्टर मिल गए।

'यह ड्राइंग का काम किसीसे करवाना मोहताजी का काम है।' एक दिन फैज़ ने सोचा। 'छोटा स्केच तो मैं खुद ही कर लूं पर... पर उस छोटे स्केच को बड़ा कैसे बनाऊं ?'

उसने कागज़ पर चौरस खाने बनाए। 'यही स्केल लगाकर सभी आर्टिस्ट छोटी ड्राइंग को बड़ी बनाते हैं।' फैज़ ने सोचा और फिर उसका मन रुक गया, 'यह नहीं, मैं कोई और हल ढूंढ़ना चाहता हूं। कोई नया हल। महंगा भी न हो और ठीक भी हो।'

और पन्द्रह दिन की मेहनत से फैज़ ने वह हल ढूंढ़ लिया। 'अब मैं चाहूं तो चिड़िया जितनी तस्वीर को हाथी जितनी बना लूं।' फैज़ ने संतोष का सांस लिया।

एक दिन बैठक के दरवाज़े पर दस्तक हुई।

"यह फैज़ साहिब की बैठक है ?" एक काफी बुज़ुर्ग आदमी बाहर खड़ा था।

"जी हां, आ जाइए अन्दर।" फैज़ ने कहा।

आनेवाले ने दहलीज़ लांघकर अन्दरूनी बैठक को एक बार नज़र घुमाकर चारों ओर से देखा और फिर सन्तोष से सिर हिलाकर कहा, "हां, उन्हींकी है। मुझे कितना वक्त लग गया खोजते हुए !" कमरे में बिखरे हुए रंग और कागज़ उस बुज़ुर्ग को बैठक ढूंढ़ लेने का सन्तोष दिला रहे थे।

"तशरीफ रखिए।" फैज़ ने कहा।

"कब तक आएंगे फैज़ साहिब ?" उसने दरी पर बैठते हुए दीवार के साथ टेक लगाई।

फैज़ मुस्कराया।

"क्यों, देर से आएंगे ?"

"नहीं, नहीं, आप फरमाइए।"

"मुझे उनसे काम तो कोई नहीं···एक मिनट दीदार करना था उनका।"

फैज़ के मुख पर जो नई-नई जवानी आई थी, वह शरमा गई। और फैज़ ने धीमे से कहा, "मेरा ही नाम फैज़ है।"

वह बुज़ुर्ग मुस्कराया, "नहीं, मेरा मतलब है वे फैज़ साहिब, जिन्होंने पोस्टर बनाए हैं।" फिर बाहर की ओर इशारा करके कहने लगा, "वह सामने की दीवार पर भी एक पोस्टर लगा हुआ है—जिन्होंने वह पोस्टर बनाया है, वे फैज़ साहिब।"

"मैंने ही बनाया है।" फैज़ ने कहा। उसकी आवाज़ में संकोच भी था और एक सन्तोष भी।

"तुम !···" वह बुज़ुर्ग चौंककर दरी पर से उठ बैठा। फैज़ के कंधे पर हाथ रखकर कहने लगा, "मैंने सोचा था, कोई मुझसे भी बूढ़ा आदमी होगा। उसके बाल ही नहीं, उसकी भौंहें तक सफेद होंगी।"

फैज़ की मसें फूटी हुई थीं। नर्म-से काले-काले बाल चमक उठे।

"साठ इंच का पोस्टर···पोस्टर जितने बड़े तो मुश्किल से तुम होगे।" उस बुज़ुर्ग ने फैज़ का माथा चूम लिया। उसके आदर में आशीर्वाद भी मिल गया, "खुदा फज़ल करे, एक दिन तुम्हारी कलम में से जादू बोलेगा।"

"फैज़, अगर तू मेरी एक बात माने।" एक दिन ज़ैनिब बीबी ने कहा।

"मैं तुम्हारा कहना कब नहीं मानता भाभी ?"

"तू अपने वालिद साहिब को कह, वे यहां आ जाएं—अपने घर।"

"यहां ? अपने घर ?" फैज़ मां के मुंह की ओर देखता रह गया।

"तेरा घर हुआ तो उनका भी घर हुआ न ? वे वहां किराये के मकान में रहते हैं। और फिर सुना है जो औरत वे अलीपुर के उर्स से लाए थे, वह उन्हें छोड़कर कहीं चली गई है। वे अकेले रहते हैं।" मां ने आंखें नीची कर लीं।

"अच्छा, भाभी।" फैज़ ने मां को कहा। और फिर खुद से कहा, 'समुन्दर शायद इतना गहरा होता है या नहीं जितना गहरा मां का दिल होता है।"

"जिसने सारी उम्र अपनी औरत की वात न पूछी कि वह रूखी खाती है कि भूखी सोती है ; सारी उम्र पीस-पीसकर ज़ैनिव ने आज सिर पर छत डाली है तो फिर उसी को वुलाने लगी है ? उसीको···" फैज़ की नानी ने कहा, मामा ने कहा, मामी ने कहा। पर फैज़ ने अपनी मां का संदेशा अपने वालिद तक पहुंचा दिया।

एक रात ज़ैनिव वीवी के पेट में वेहद दर्द उठा। 'सुवह किसी हकीम को दिखाऊंगी,' उसने सोचा और दांतों तले जीभ दवा ली, "कहीं मेरे सोए हुए वच्चे जाग न जाएं।"

सुवह जव फैज़ और उसकी वहिन साजी सोकर उठे तो मां की जीभ अकड़ी हुई थी। हकीम को बुलाया गया, पर नब्ज़ वन्द होती जा रही थी। "यह हैज़ा तो एक पल की मोहलत नहीं दे रहा।" हकीम कह ही रहा था कि मां ने आखिरी हिचकी भर ली।

"मां के दम से ही शहर वसता था।" फैज़ ने एक लम्वा सांस लिया।

वेशक कुछ दिन वीत गए, पर फैज़ का मन उचाट हो चुका था।

'चार दिन वम्वई देख आऊं। लोग कहते हैं वड़ा रंगीन शहर है।' फैज़ ने मन में सोचा, पर साथ ही उसे खयाल आया, 'साजी वहिन का क्या करूंगा ? उसे किसके पास छोड़कर जाऊंगा ?' फैज़

सोच में पड़ गया। फिर उसे एक रास्ता सूझा, 'वालिद साहिब को कहूं, यहां आ जाएं, इस घर में। वहां अकेले बैठे क्या करते हैं ? यहां साजी का ध्यान रखेंगे।'

वालिद साहिब को फैज़ ने कहा तो तब भी था जब उसकी मां ने उसे यह बात कही थी, पर तब उन्होंने बात पर खास ध्यान नहीं दिया था। 'शायद उनकी ज़मीर नहीं मानती थी।' फैज़ ने सोचा, 'पर अब तो वह मर गई जिससे वे शर्मसार थे। अब उन्हें क्या एतराज़ होगा ?' और फैज़ जाकर अपने वालिद को अपने घर ले आया।

वालिद साहिब को साजी का भार सौंपकर फैज़ ने बम्बई का टिकट ले लिया।

लोग, लोग, हर तरफ लोग—फैज़ को यह शहर धड़कता हुआ और बहुत सजीव-सा लगा।...ऊंची-ऊंची ट्रामें, ऐसे जैसे मकान पर मकान चल रहे हों।—फैज़ देखता। और यद्यपि उसे कोई काम न होता, वह टिकट लेकर—कहीं का भी टिकट लेकर, ट्राम में बैठ जाता। और जब वह समुद्र की ओर देखता, उसका मन लहरों से भर जाता।

फैज़ पन्द्रह दिन के लिए इस शहर में आया था। उसने कोई काम न किया, पर अपने कुछ पोस्टर लोगों को दिखाए और कुछ-कुछ अन्दाज़ा लगा लिया, 'अगर मैं इस शहर में आ जाऊं तो मुझे रोटी की कमी नहीं होगी।'

फैज़ जहां रात के समय सोता, वह लाहौर शहर होता था। पर जब नींद आ जाती तो वह बम्बई शहर बन जाता था।

'अगर कभी मैं बम्बई जा सकूं!' फैज़ सोचता और फिर उसे अपने पांवों के तलवों में खारिश हो रही महसूस होती। 'कहते हैं पांव में खारिश हो तो सफर करना पड़ता है।' फैज़ सोचता, काश उसका यह वहम सच हो जाए !

बम्बई ने फैज़ के मन की बात जान ली। उसे बुला लिया। य बम्बई के एक हफ्तावार 'मुसव्वर' का बुलावा था। एम० इस्माइल

एक दिन मुसव्वर का पर्चा देखकर उसके मालिकों को कहा था, "अगर पर्चा निकालना है तो कोई काम की चीज़ निकालो। कितावत कराओ तो फ़ैज़ से, मज़ा आ जाए पर्चा देखने का।" मुसव्वर के मालिकों को यह बात चुभ गई थी। उन्होंने फ़ैज़ को आने के लिए लिख दिया।

फ़ैज़ ने पत्र पढ़ा। न पैसे पूछे, न रहने की जगह पूछी, न ही कोई बात। बम्बई का टिकट ले लिया।

"यह बात बुरी है फ़ैज़ साहिब !" कुछ महीनों के बाद एक दिन किसी उर्दू के अखबार के मालिक ने फ़ैज़ को कहा। "आपने तो हमारा धंधा ही बन्द कर दिया है। हमें फिल्मों के इश्तिहार ही मिलने बन्द हो गए हैं। अब जो भी इश्तिहार मिलता है 'मुसव्वर' को मिलता है। आपने मुसव्वर का रूप ही बदल दिया है।"

फ़ैज़ मुस्कराया।

"फ़ैज़ साहिब, सीधी बात है। या तो हमारा भी काम कीजिए और या फिर उनका भी बन्द कर दीजिए।"

फ़ैज़ का चेहरा खिल उठा, "उनका काम तो मैं छोड़ूंगा नहीं क्योंकि उन्होंने मुझे घर के आदमी की तरह रखा हुआ है। और आपका मैं देनदार हूं, आपने मेरी कद्र की है।"

बम्बई शहर की मिट्टी पता नहीं कितनी उपजाऊ हो गई। कुछ ही अरसे में उर्दू की बहुत सी पत्रिकाएं पैदा हो गईं। फ़ैज़ उनकी कितावत करता और उनके लिए गज़लें सजाता। उनके लिए पेन-ड्राइंग भी करने लग गया।

एक दिन एक स्टाल पर रुककर फ़ैज़ ने गिना—उर्दू की तैंतीस पत्रिकाएं थीं : दैनिक और साप्ताहिक दोनों : जिनमें से अट्ठाईस पत्रिकाओं के बाहरी पृष्ठ फ़ैज़ के हाथ के बने हुए थे।

फ़ैज़ ने अपने वालिद साहिब का नया शेर पढ़ा :

पसे फ़नाह उन्हें याद आ गई वफ़ा कोई

उसे लगा, आज उसके वालिद को अपनी जैनिब याद आ रही थी—उनकी अपनी बीवी, उनके अपने बच्चों की मां, जिसकी वफा अपनी उम्र जितनी लम्बी थी।···और आज उन्होंने उसकी कब्र पर अपना सिर झुकाया हुआ था।

'हो सकता है, मेरे वालिद ने यह शेर किसी और औरत के लिए लिखा हो।' पर इस विचार को उसने मन की किसी दरार में से अन्दर न आने दिया। आज उसके मन में सिर्फ अपनी मां का चेहरा रूपमान था, अपनी मां की वफा चमक रही थी और उसकी कल्पना को आज सिर्फ यही कबूल था कि उसके बाप के रंगीन मिज़ाज ने आज उसकी मां की सारी वफा के सामने सिर झुकाया हुआ था।

फैज़ ने सामने कागज़ फैलाया, रंग रखे और अपने मन में जो मां का चित्र था, उसे सामने कागज़ पर उतार दिया। एक कब्र··· सिर झुकाए बैठा एक आदमी···और कब्र पर गिरते हुए आंसुओं के ताज़ा फूल।

"फैज़ साहिब! सुनते हैं मण्टो साहिब आपके वाकिफ हैं। अगर उन्हें कहीं बम्बई बुला दें, पर्चा निकालने का मजा आ जाए।" एक दिन मुसव्वर के मालिक मोहम्मदनज़ीर ने कहा।

"अच्छा, इस बार जब मैं लाहौर जाऊंगा, अमृतसर में उन्हें मिलता जाऊंगा।" फैज़ ने वादा किया।

"समुन्दर की हवा मुझे ठीक नहीं बैठेगी।" मण्टो बेशक डरता रहा, पर वह अगले महीने बम्बई आ गया।

मण्टो तीखी से तीखी चुटकी भरता, फैज़ नई से नई लकीर खींचता। 'मुसव्वर' की ताब नहीं झेली जाती थी। और उससे भी ज़्यादा, फैज़ से अपने दिल की ताब नहीं झेली जाती थी। एक चेतना उसके अन्दर आंखें खोल रही थी।

'अगर मेरे वालिद कहीं मुझे बहुत-सा पढ़ा-लिखा देते···,' फैज़ के अन्दर एक अरमान करवटें लेता था, 'पता नहीं, मैं मन की आग

की कौन-कौन से रूप देता !'

'मन की आग कोई भी बन्धन नहीं सहती, ज्ञान का बन्धन भी नहीं।' एक दिन फैज़ ने खुद से कहा। आज उसके हाथों से अपने मन की तपिश सहन नहीं हो रही थी।

उसने कागज़ सामने रखा और हाथ में ब्रुश पकड़कर उसपर अपने मन की बात उतारने लग गया। कुछ घंटों के बाद उसने डर-कर कागज़ को देखा। एक तलवार थी, बहुत लम्बी। इस तलवार का दस्ता किसीके हाथ में नहीं पकड़ा हुआ था, पर उसके पीछे एक बहुत भयानक और किसी जल्लाद का सा चेहरा था। तलवार में उसने बहुत-से लोग पिरोए हुए थे—सैकड़ों मज़दूर। नीचे ज़मीन पर खून की बूंदें टपक रही थीं।

फैज़ अपने चित्र की ओर देखता रहा, देखता रहा। ये खून की बूंदें...ये मोहरें...इस चित्र का शीर्षक जो कुछ उसने अपने मन में सोचा हुआ था, उसने फिर ध्यान से देखा, यह चित्र उसके शीर्षक के साथ इन्साफ करता था। उसने चित्र पर उसका शीर्षक लिख दिया—'दौलत का जन्म'।

३

'अगर मैं कभी इंगलैंड जा सकूं !...' फैज़ के अन्दर पेंटिंग का इश्क जनून की हदों को छूने लग गया था। उसे पता था कि उसके पास इंगलैंड जाने के लिए पैसे नहीं थे और न वहां की अंग्रेज़ी ज़बान उसके बस की बात थी।... पर उसके सपने को जैसे इसका कोई ज्ञान नहीं था। 'रायल एकैडमी' और शहर में एक साथ लगी हुई अस्सी-अस्सी प्रदर्शनियां...फिर वहां चित्रकार...उसके सपने को केवल यही पता था।

अस्सी प्रदर्शनियोंवाली बात उसे चुगताई साहिब ने बताई थी।

'चुगताई···ये लम्बी-लम्बी स्त्रियां···लम्बी-लम्बी बांहें···लम्बे-लम्बे हाथ···यह क्या बनाता है चुगताई ?' कभी छुटपन में फैज़ ने सोचा था, पर फिर वह ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया था, वह चुगताई की कला का शैदाई बनता गया था।

"तुम्हारे मन में हुनर ने अपने बीज रखे हुए हैं। अगर कभी ये फूट पड़े···" एक दिन चुगताई साहिब ने फैज़ को कहा था और उसके मन में उन्होंने इंगलैंड जाने का सपना भर दिया था।

'नहीं आती अंग्रेज़ी तो न सही। मैं गूंगा बन के बैठा रहूंगा।' फैज़ ने अपने मन में कहा और सोचा, 'रंगों और रेखाओं को देखने के लिए आंखों को जो ज़बान आनी चाहिए, वह मुझे आती है।'

'रास्ते का किराया और वहां का खर्चा ?' फैज़ ने फिर सोचा, 'लोग कहते हैं, वहां गांवों में कपड़े की फेरी लगाई जाए तो अच्छे पैसे बन जाते हैं।' फैज़ को एक विचार सूझा। पर इस विचार को उसने एक तरफ हटा दिया। 'नहीं, कपड़े की फेरी नहीं···मैं कुछ तस्वीरें बनाकर साथ ले जाऊंगा, ऐसी तस्वीरें जिनमें बिलकुल हिन्दुस्तान हो···मदारियों के खेल, माश्की, बालियों से सजी हुई पंजाबी लड़कियां···लम्बे-लम्बे फिरन पहने काश्मीरी लड़कियां···' यह बात उसे पसन्द आई! 'ये चीज़ें उन लोगों के लिए बिलकुल नई होंगी और इनसे मेरा वहां रहने का खर्च निकल आएगा।··· सिर्फ अगर कहीं से किराया बन जाए।···'

आजकल फैज़ ने नागपाड़ा में एक छोटा-सा कमरा किराये पर लिया हुआ था। इसी कमरे में वह सोता, बैठता, किताबत करता, ड्राइंग करता और तानपूरा छेड़कर गाया करता था।

आसपास में ज़्यादातर आबादी यहूदियों की थी। ये सभी लोग—सब नहीं तो सौ में से निन्नानवे, पैसे लगाकर ताश खेलते थे, तीजी खेलते थे, सट्टा खेलते थे।

"यह सट्टा तुम किस तरह खेलते हो ? कितने पैसे लगाओ तो कितने बन जाते हैं ?" एक दिन फैज़ ने अपने पड़ोसी लड़के से पूछा।

पड़ोसी लड़के ने अखबार खोली और कहने लगा, "यह देखो, लिखा हुआ है न, 'न्यूयार्क काटन'।"

"हां।" फैज़ ने कहा।

"पिछली क्लोजिंग ३०·९५ ; आज की ओपनिंग ३०·९३ ; कितना फर्क हुआ ?"

"दो।"

"आज की क्लोज़िंग ३०·९५ ; पिछली क्लोज़िंग से क्या फर्क हुआ ?"

"कुछ भी नहीं।"

"बस आखिरी नंबर पर दांव लगाना है। ओपनिंग का भी आखिरी और क्लोज़िंग का भी आखिरी। अगर सिर्फ ओपनिंग का या सिर्फ क्लोज़िंग का नम्बर बताओ तो उसे सिंगल कहते हैं। अगर दोनों के दो नंबर बताओ तो डबल।"

"पर नम्बर किस हिसाब से बताया जाए ?"

"हिसाब कोई नहीं है। जो आपके मन में आए। कुल मिलाकर नौ नम्बर होते हैं। दस से तो फिर एक हो गया न। इसलिए जो कुछ लगाना है नौ में से एक पर लगाना है।"

"कितने पैसे लगाओ तो कितने बनते हैं···अगर नंबर ठीक निकल आए तो ?"

"एक रुपया लगाओ तो नौ रुपये। दस रुपये लगाओ तो नब्बे रुपये। पर यह सिंगल का है। डबल के आठ सौ दस रुपये।"

इतने रुपयों का नाम सुनकर फैज़ को एक चक्कर-सा आ गया। और फिर उसे लगा जैसे वह इंग्लैंड का टिकट खरीद रहा था।

'पर मैं यह नंबर कैसे सोचूं ? न जाने कौन-सा ठीक निकल आए !' फैज़ ने खुद से बात की। 'अगर खुदा के फज़ल से···' फैज़ को जैसे हाथ-पांव की पड़ गई।

'अच्छा, फाल निकालता हूं।' फैज़ ने फैसला किया। 'किस किताब में से निकालूं ?' उसने फिर सोचा। अपने कमरे में पड़ी हुई

दो-चार किताबों को देखा। 'खून के आंसू'—फैज़ ने यह किताब हाथ में पकड़ ली, सोचने लगा, 'यह किताब ठीक है। मेरे आर्टिस्ट मन का यह खेल भी तो खून के आंसू हैं।...'

एक मिनट आंखें मूंदकर उसने किताब खोली। सामने का पृष्ठ चार था। 'मैं सिंगल खेलूंगा और नम्बर चार लगाऊंगा।' फैज़ ने फैसला किया।

एक चवन्नी लगा दी। दूसरे दिन वही नम्बर निकल आया—चार। और फैज़ को दो रुपये चार आने मिल गए।

सट्टे के खेल से फैज़ ने कुछ रुपये बना लिए। पर कुछ रुपयों के साथ एक बहुत बड़ा वहम ले लिया। ठीक नम्बर को ढूंढ़ने के लिए वह वहमी हो गया।

वह एक जगह खड़ा रहता। इधर-उधर देखता। शायद कहीं से ठीक नम्बर का इशारा मिल जाए। एक दिन इसी तरह खड़ा था। पास से एक बच्चा गुज़र रहा था। उसके हाथ में एक कांच का गिलास था। और गिलास में दो पैसे पड़े हुए थे। शायद वह दो पैसों का दूध लेने के लिए जा रहा था। बच्चे को ठोकर लग गई और गिलास उसके हाथ से गिर पड़ा। आसपास खड़े लोगों ने और फैज़ ने झट से आगे बढ़कर उस बच्चे को उठाया।

'कमाल है, इस तरह गिरा है कि कांच का गिलास बिलकुल नहीं टूटा।' फैज़ ने सोचा और देखा कि गिलास में से दो पैसे लुढ़ककर उसके पांवों के पास आकर गिरे थे। फैज़ ने वे पैसे उस बच्चे के हाथ में दे दिए, और गिनने लगा, 'गिलास के शब्द का पहला अक्षर 'ग'। 'अ' एक, 'ग' ग्यारह। ग्यारह का भी नम्बर एक बना। सो गिलास का नम्बर एक बना।' फिर उसने सोचा, 'ये दो पैसे, जो खुद ही मेरे पांवों के पास आकर पड़े थे, ये दो भी गिन लूं।' उसने गिलास से एक नम्बर ले लिया और दो पैसों से दो। और डबल खेल दिया। एक ओपनिंग, दो क्लोज़िंग। उस दिन उसने एक रुपया लगाया।

दूसरे दिन उसके नम्बर निकल आए। उसे इक्यासी रुपये मिल गए।

कारदार ने एक दिन फैज़ की खिड़की के नीचे खड़े होकर अपनी मोटर का हार्न बजाया और फैज़ की आवाज़ दी।

"मैं नीचे आता हूं मियांजी।" फैज़ ने खिड़की में से जवाब दिया।

"नहीं, नहीं, तुम वहीं रहो, मैं ऊपर आता हूं।" नीचे से कारदार ने कहा और फिर वह सीढ़ियां चढ़कर फैज़ के कमरे में आ गया।

"यार, मैं बटुआ घर में ही भूल आया हूं। एक पुर्ज़ा खरीदना था छोटा-सा। कुछ रुपये तो दो।" कारदार ने कहा।

"जितने चाहिए लीजिए मियांजी।" फैज़ ने जेब में से कुछ रुपये निकाले।

कारदार ने फैज़ के हाथ से पांच रुपये ले लिए।

"और लीजिए न।" फैज़ कहता रहा, पर उसने सिर्फ पांच ही रुपये लिए।

कारदार चला गया। फैज़ सोचने लगा, 'मैं तो कह रहा था कि मियांजी आप ऊपर न आइए, मैं नीचे आ जाता हूं। वे जैसे ज़बर्दस्ती मेरे कमरे में आए। मेरे इन्कार करने पर भी आ गए। उनका आना ज़रूर मेरी अच्छी किस्मत है।'

'उनका नाम कारदार, सो नम्बर बना चार। फिर उन्होंने रुपये मांगे। मैं ज़्यादा दे रहा था, पर उन्होंने पांच ही लिए। सो नम्बर बना पांच। पहले उनका आना और फिर रुपये लेना—आज मैं डबल खेलूंगा। ओपनिंग चार, क्लोज़िंग पांच।'

उस दिन फैज़ ने पांच रुपये लगा दिए। दूसरे दिन सुबह उसके दोनों नम्बर ठीक निकल आए और उसे चार सौ पांच रुपये मिल गए।

'मेरा इंगलैंड का किराया बन गया…कुछ मेरे पास पहले जमा किए हुए भी हैं।…' और फैज़ ने जल्दी से फार्म भरवाकर पासपोर्ट के दफ्तर में दे दिया।

पासपोर्ट बन गया। सुर्ख रंग की जिल्दवाले पासपोर्ट को फ़ैज़ ने फिर-फिर से देखा। उसके पांवों में एक हलचल मची हुई थी। वह सोच रहा था कि वह नागपाड़ा बस्ती के एक छोटे-से कमरे में बैठा हुआ नहीं था, बल्कि वह इंग्लैंड की रायल एकैडमी में खड़ा था।

दोपहर अच्छी तरह बीत गई। फ़ैज़ के पांव रोज़ की आदत के अनुसार सट्टे की जगह पर पहुंच गए। वह दायें-बायें देखता हुआ अपने नम्बर के लिए कोई इशारा ढूंढ़ रहा था कि किसी गुज़रते हुए व्यक्ति ने कहा कि आज बाज़ार में एक ट्राम अपनी लाइन पर से उतर गई है।...

'ट्राम!...त...त...सो नम्बर बना तीन।' फ़ैज़ ने सोचा और तीन नम्बर खेलने लगा।

'नहीं, नहीं, यह गलत नम्बर है। ट्राम तो लाइन पर से उतर गई।' फ़ैज़ ने सोचा और कहने लगा, 'ठहरो, ठहरो, यह नम्बर गलत है। मैं सोच लूं।' और वह सोचने लगा। 'ये तीन तो बल्कि कम हो जाने चाहिए। दस में से तीन गए, बाकी रह गए सात।' और उसने सात नम्बर खेल दिया।

प्रातःकाल के समय नम्बरों का नतीजा निकला था। फ़ैज़ चौंक-कर जागा और आंखें मलता हुआ बाज़ार में आया। "आज का नम्बर, सात!" आवाज़ आ रही थी। फ़ैज़ आज भी जीत गया था।

वह अपने कमरे की सीढ़ियां चढ़ने लगा था कि अखबार बेचने-वाले एक लड़के की आवाज़ आई, "जंग का एलान हो गया है—दूसरी बड़ी जंग।..."

फ़ैज़ के पांव उसी सीढ़ी पर जम गए। 'जंग...और मेरा इंगलैंड?' उसे एक चक्कर आया। उसे लगा जैसे इस जंग ने अपना सबसे पहला हमला, उसके सपने पर किया था। पहली गोली...किसी बन्दूक की पहली गोली उसके सफर को लग गई थी।

फ़ैज़ उदास और शिथिल-सा अपनी रोज़वाली जगह पर खड़ा

वही सट्टा खेलने की जगह । वही शाम के छः बजे । एक गहरी फूलोंवाला स्कर्ट पहने उसके पास से गुजरी ।

ह रोज इसी समय यहां से गुजरती थी । फैज ने उसे कई बार था और फिर उसे पता लगा था कि वह पाउडर बनानेवाली किसी री में काम करती है । रोज इसी समय काम से लौटती है ।

यद्यपि फैज ने उसे पहले भी कई बार देखा था, पर आज उसने भटकी हुई आंखों से उसकी ओर देखा—खूब गोरा रंग···पतली-आंखें और होंठ खूब तराशे हुए···वह देखता रहा, देखता रहा ।

वह लड़की सामने की सीढ़ियों पर चढ़ गई । फैज को लगा, की आंखों के सामने से कुछ खो गया था । और शायद···उसके र में से भी उसका कुछ भाग खो गया था !

फैज वहीं खड़ा रहा । शायद अपने खोए हुए भाग का हिसाब ा रहा था । तभी उसके कंधे को छूता हुआ एक रूमाल उसके वों में गिरा । फैज ने रूमाल उठाया । 'यह रूमाल कहां से गिर ड़ा ?' और उसने ऊपर देखा ।

ऊपर खिड़की में वह लड़की खड़ी थी । लड़की मुस्कराई । फैज मुस्कराया । हाथ में रूमाल पकड़े हुए वह खिड़की की ओर देखता रहा । और फिर उसे भूल गया कि वह कहां खड़ा था । उसे लगा, वह इंग्लैंड की रायल एकैडमी में खड़ा था । सामने की दीवार पर एक लड़की का बहुत सुन्दर चित्र टंगा हुआ था और वह मुग्ध होकर उस चित्र को देख रहा था ।

दूसरे दिन वही जगह, वही समय, वही फैज । और वही लड़की वहां से गुजरी । लड़की के हाथों में कई छोटे-छोटे बंडल थे । और फिर उसके हाथों में से तीन-चार बंडल गिर पड़े । फैज ने उन्हें उठाया । और हाथों से उनकी हलकी-सी गर्द पोंछकर लड़की को पकड़ा दिए ।

फिर फैज को लगा, जैसे उस लड़की ने

एक संकेत किया हो। वह चल पड़ी। फैज़ उसके पीछे चल पड़ा। वह बाज़ार पार हो गया। बाहर की बड़ी सड़क आ गई। फिर वह लड़की खड़ी हो गई। फैज़ भी खड़ा हो गया।

एक बस आई। मुसाफिर चढ़े। वह लड़की भी चढ़ गई। बस के डंडे को पकड़कर उसने बाहर फुटपाथ पर खड़े फैज़ की ओर देखा, जैसे कह रही हो, 'तुम चढ़ते क्यों नहीं, बस चल पड़ेगी।' और फैज़ जल्दी से बस में चढ़ गया।

"मेरा नाम लीना, तुम्हारा नाम ?" उस लड़की ने पूछा।

"मेरा फैज़।"

फिर दोनों चुप हो गए।

"टिकट ?" कंडक्टर ने पूछा।

लीना ने फैज़ के चेहरे की ओर देखा।

"मालाबार हिल्ज़।" फैज़ ने धीमे से कहा।

कंडक्टर ने दो टिकट दिए।

यह बाग बहुत ऊंची पहाड़ी पर था। इसके एक कोने में खड़े होकर देखने से बम्बई की ऊंची-ऊंची इमारतें भी बहुत नीची दिखाई देती थीं। और नीचे दूर तक समुद्र ही समुद्र था।

बत्तियां जल पड़ीं। दूर सब इमारतों की रोशनी इस तरह लगती थी, जैसे आज दीवाली का दिन हो। फैज़ को लगा, वह हवाई जहाज़ में बैठा हुआ था। इस समय वह हवाई जहाज एक शहर पर से गुज़र रहा था। शहर की बत्तियां झिलमिल कर रही थीं।

लीना की ठंडी नर्म बांहें फैज़ की बांहों में थीं। पांव जैसे धरती पर नहीं थे। वह धरती और आकाश के बीच में उड़ रहा था।

"तुम हमारे दोस्त हो, हमारे अपने आदमी हो, बताओ हमारे लिए क्या करोगे ? हम एक पंजाबी फिल्म बना रहे हैं।" खुरशीद और लाला याकूब ने एक दिन फैज़ को कहा।

"जो कहेंगे करूंगा। जो भी मुझसे हो सकेगा।" फैज़ ने दोस्तों

से वादा किया।

उस रात फैज़ की आंखों में पंजाबी लड़की की छवि थी। उसे नींद नहीं आ रही थी। वह उठकर बैठ गया। कमरे की बत्ती जलाई। कमरे में एक तरफ खिड़की के सामने उसकी चारपाई थी। दीवार से तानपूरा टंगा हुआ था। एक छोटी-सी मेज़ पर कागज़, रंग, ब्रुश थे। एक तरफ दो-तीन बर्तन, डिब्बे, बोतलें बिखरी हुई थीं। खूंटी से कुछ कपड़े टंगे हुए थे।···पर फैज़ की आंखों में कुछ झिलमिल कर रहा था।

उसने आंखें मलीं, फिर देखा—एक लड़की, भरपूर जवानी की उम्र, चेहरे पर नई जागी मुहब्बत की रोशनी, हाथों और पांवों में एक खुमारी-सी। फिर उसकी नाक में नथ चमकने लग गई। उसके शरीर पर किनारीवाली कमीज़ पड़ गई। उसके बाल गुंथ गए। दोनों कानों की बालियों में मोती चमकने लग गए।—फैज़ ने कागज़ लिया, ब्रुश लिया। और अपने मन की कल्पना को कागज़ पर चित्रित करने लगा। एक चित्र बनाया, दो बनाए, तीन बनाए···उसकी कल्पना कहीं रुकने का नाम नहीं ले रही थी। पंजाबी लड़की को और पंजाबी जीवन को वह कागज़ों पर चित्रित करने लग गया।

दूसरे दिन वह सभी कागज़ लेकर फिल्म के दफ्तर में चला गया। "कमाल हो गया···बस कमाल!" उसके दोस्त खुशी से खिल उठे और कहने लगे, "इन्हें हम अलग-अलग शहरों में अपने डिस्ट्रीब्यूटरों को भेज देते हैं। हम तो सोच रहे थे कि कब सब कुछ होगा, कब तस्वीरें बनेंगी; कब हम कुछ नमूने भेजेंगे। ये शो-कार्ड बन गए हैं। अभी बन गए हैं!"

उस दिन फैज़ को लगा, उसने आज कोलम्बस की तरह धरती का कोई नया हिस्सा ढूंढ़ लिया था। उसने सोचा, 'मैं एक बार यह सब कुछ कारदार को दिखाऊंगा। वे मेरे उस्ताद हैं, मेरे कद्रदान हैं।'

फैज़ ने यद्यपि कभी कारदार की शागिर्दी नहीं की थी, पर लाहौर में रहते हुए जब उसे इस काम की लगन लगी थी, वह सबसे

पहले कारदार के बने हुए पोस्टरों को देखकर ही लगी थी। उसने चाहा था कि वह भी उन जैसे चित्र बनाए। वह कारदार के पोस्टरों को देखता रहता था, देखता रहता था। और कागज़ लेकर उन जैसे चित्र बनाने लग जाता था। इसीलिए वह मन ही मन में उन्हें अपना उस्ताद कहा करता था।

कारदार ने फैज़ का काम देखा और फिर उसे अपनी बांहों में लेकर उसका माथा चूम लिया।

"मेरे साथ गाड़ी में बैठ जाओ। मुझे एक जगह जल्दी पहुंचना है। रास्ते में तुमसे बातें करता जाऊंगा।" कारदार ने कहा और फैज को गाड़ी में बिठाकर महताब के घर चला गया। आज उसने अपनी फिलम 'शारदा' के लिए महताब को मुख्य भूमिका में काम करने के लिए कहना था।

महताब से लिखा-पढ़ी करके कारदार फैज़ को अपने घर ले गया।

"हां, अब बात करो। तुम मेरे पास काम करोगे?"

"मैं? आप क्या कह रहे हैं मियांजी?"

"ऐसे शो-कार्ड तुम मेरे लिए बनाओगे?"

"आप मेरे उस्ताद हैं मियांजी। आपके सामने मुझसे काम नहीं होगा। आप की लकीरों को देख-देखकर तो मैंने लकीरें खींचनी सीखी हैं।"

"तुमने मुझे उस्ताद कहा है। उस्ताद का कहना माना जाता है। तुम इसे मेरा हुक्म समझ लो।"

फैज़ को लगा, कारदार के एक ही वाक्य ने उसे मौन कर दिया था। कारदार ने कागज निकाला, "यह लो इकरारनामा, जितने रुपये तुम चाहो, इसपर भर लो और नीचे दस्तखत कर दो।"

फैज़ ने दस्तखत कर दिए। पर ऊपर लिखा कुछ नहीं। "यह काम मुझ से नहीं होगा मियांजी, ऊपर जो आप चाहें लिख लें। मैं काम करूंगा। जो कुछ मुझसे हो सकेगा, करूंगा।"

शो-कार्ड!—फिल्मी दुनिया के इतिहास में यह नई चीज़ लाने-

वाला फैज़ पहला कलाकार था।

फैज़ ने बुलाया, लीना आ गई। पर आज उसके चेहरे पर कोई शिकायत थी। फैज़ ने उसके होंठ चूमे, पर उसका चेहरा किसी गर्मी से न पिघला।

"रात कौन था तुम्हारे कमरे में ?" लीना ने गुस्से से कहा।

"मेरे कमरे में ? कौन था मेरे कमरे में ?"

"मैं रात के वक्त किसी काम से बाजार में से गुजरी थी, तुम्हारे कमरे की बत्ती जल रही थी।"

"फिर ?"

"तुम्हारे कमरे की खिड़की में एक लड़की खड़ी थी।"

"एक लड़की ?" फैज़ मुस्कराया। "पागल हो तुम, वह तो मेरी पड़ोसिन थी।"

"पता है मुझे। यूनिस थी। उसने लापर (यहूदी लड़कियों का रात का लिबास) पहना हुआ था। क्या करने आई थी वह रात को ?"

"रात को ? यूंही आ गई थी।" फैज़ ने लीना को चिढ़ाया।

लीना के चेहरे पर रुलाई आ गई। फिर फैज़ ने हंसकर कहा, "यूंही कहां आई थी, उर्दू पढ़ने आई थी। साथ में उसकी बहिन भी थी।"

"तुम यह कमरा छोड़ दो।" सोफी ने कहा और फिर हंस पड़ी।

"कमरा मैं छोड़ देता हूं और जो कमरा तुम कहो, मैं वहीं ले लेता हूं, पर एक शर्त।"

"क्या ?"

"तुम मेरे साथ शादी कर लो।"

लीना चुप कर गई। बिलकुल चुप कर गई।

"क्यों ?" फैज़ ने लीना की आंखों में देखा।

"शादी ? शादी के लिए मेरी मां नहीं मानेगी।" लीना ने सिर झुका लिया।

दोनों में बहुत थोड़ा-सा फासला था, पर दोनों को लगा जैसे एक चुप ज़बर्दस्ती आकर दोनों के बीच में बैठ गई थी। और इस चुप को दोनों में से कोई नहीं उठा सकता था।

आज फैज़ को कोई तीखा नशा चाहिए था। न शराब कुछ कर सकती थी न सट्टा। उसे लगा, उसके अन्दर कोई वस्तु जैसे जम गई थी। कोई स्थान ऐसे सो गया था जिसपर हाथ लगाने या चुटकी भरने से कोई आभास नहीं होता था। 'कोई बहुत तीखी चीज़, कोई ···पता नहीं क्या···,' फैज़ ने सोचा, 'बेशक मेरे दिल को जला दे, पर मुझे हिला दे।'

फिर चारपाई पर लेटे हुए फैज़ ने अपनी मेज़ की ओर देखा—रंगों की बोतलों में जैसे रंग जम गए थे, और अब उसका ब्रुश किसी रंग के साथ खेल नहीं सकता था। फिर उसने दीवार पर टंगे हुए तानपूरे की ओर देखा, एक मकड़ी ने चारों तारों के इर्द-गिर्द जाल बुनकर अपना घर बना लिया था और अब उसमें से जैसे आवाज़ नहीं जग सकती थी।

और फिर फैज को लगा, उसे उठकर खड़ा होना चाहिए, चलना चाहिए, दौड़ना चाहिए, वरना उसकी टांगें इस तरह चारपाई के साथ ही जुड़ जाएंगी।

फैज ने सोचा, पर उससे उठा न गया। उसने उन लोगों की कल्पना की जो चल रहे थे, दौड़ रहे थे।···लोग, अच्छे सेहतमन्द, तेज़-तेज़ चलते हुए, घोड़ों की तरह दौड़ते हुए।···और फैज़ की कल्पना लोगों को छोड़कर घोड़ों की ओर चली गई।

'घोड़े···रेस···' फैज के अन्दर एक अंगड़ाई भर गई।

दूसरे दिन इतवार था। फैज़ ने बहुत-से रुपये जेब में डाले और रेसकोर्स का टिकट ले लिया।

"विन।" उसने एक घोड़े पर दस रुपये लगाए। इस घोड़े पर बहुत-से लोग पैसे लगा रहे थे। फैज़ ने उन्हींकी नकल की। घोड़ा

हार गया । फैज़ ने दस रुपये खो दिए ।

"प्लेस ।" दूसरी वार उसने पांच रुपये लगाए । यह घोड़ा भी हार गया । फैज़ ने पांच रुपये और खो दिए ।

सट्टे के पुराने वहमी स्वभाव ने फैज़ के अन्दर एक चुटकी भरी, 'मैं जगह बदल के देखूं । जहां खड़े होकर मैंने दो वार पैसे लगाए हैं, वहां दोनों वार हार गया हूं । यह जगह मनहूस है ।' और फैज़ ने वहां से हटकर एक कोने में खड़े होने के लिए स्थान ढूंढ़ लिया । इस वार उसने किसी घोड़े पर पांच रुपये 'प्लेस' लगाए थे ।

घोड़े दौड़ रहे थे, तेज़, और तेज़, और तेज़, जैसे ज़िफ में आए हुए हों। जिसने किसी घोड़े पर कुछ लगाया हुआ होता, वह जैसे उस घोड़े के साथ खुद दौड़ रहा होता । उसका घोड़ा उसे ज़रा पीछे रह गया दीखता तो उसकी अपनी टांगों में जैसे कुछ होने लग जाता । उसका मन चाहता, उसका वस चले तो वह अपनी टांगों की शक्ति भी उस घोड़े की टांगों में भर दे ।

फैज़ की आंखें अपने घोड़े का पीछा कर रही थीं, उसके साथ उड़ रही थीं ।

उसका घोड़ा जैसे उड़कर सबसे आगे आ गया । फैज़ की टांगों में कुछ जमा हुआ पिघल गया । वह दौड़कर खिड़की के पास पहुंचा। उसका घोड़ा जीत गया था ।

'यह जगह मुवारक है ।' फैज़ का वहम पक्का हो गया । दूसरी वार उसने दस रुपये लगाए और जल्दी से भीड़ को चीरता हुआ अपनी उसी जगह की तरफ आया । उसके आने पर एक और व्यक्ति वहां खड़ा था । विलकुल उसी जगह । और उसने अपनी कोहनियां इस प्रकार फैलाई हुई थीं कि कोई व्यक्ति पास में खड़ा न हो सके ।

फैज़ ने थोड़ी-सी जगह लेनी चाही और उसने सोचा, 'वाद में मैं इसे थोड़ा-सा आगे धकेल दूंगा । हौले-हौले सरकता हुआ अपनी जगह पर हो जाऊंगा ।' उसने थोड़ी-सी टांग फंसा ली, पर वह उस व्यक्ति को एक तरफ न हटा सका ।

घोड़े दौड़ने लग गए थे। फ़ैज़ कभी घोड़ों की ओर देखता, कभी अपनी जगह की ओर। उसे विश्वास हो गया था कि अगर वह अपनी पहली जगह पर खड़ा न हो सका तो उसका घोड़ा हार जाएगा।

वह व्यक्ति भी जैसे जमकर वहां खड़ा हुआ था। दोनों की वांहें एक-दूसरे के साथ रगड़ खा रही थीं। इस समय फ़ैज़ ने अपनी थोड़ी-सी जगह बना ली। सामने देखा, दो घोड़े बराबर जा रहे थे।

फ़ैज़ ने फिर जल्दी से उस व्यक्ति को थोड़ा-सा धकेला। इस बार उसने फ़ैज़ का धक्का सम्भाल लिया, पर अपनी जगह में से थोड़ी-सी भी जगह फ़ैज़ को न दी। वह जगह अब दोनों के पांवों में बंटी हुई थी।

दोनों ने घबराकर सामने देखा। दोनों बराबर दौड़ रहे घोड़े पीछे रह गए थे और एक तीसरा घोड़ा पीछे से आकर आगे निकल गया था।

फ़ैज़ और वह व्यक्ति दोनों हार गए।

"अगर तुम मुझे थोड़ी-सी जगह दे देते, मैं अपनी पहली जगह पर खड़ा हो जाता, तो मैं ज़रूर जीत जाता।" फ़ैज़ ने कहा।

"मैं आज बहुत हारा हुआ था। मैं जगह बदलकर देखना चाहता था। अगर तुम मुझे थोड़ा-सा एक तरफ न धकेल देते तो मैं ज़रूर जीत जाता।" दूसरे व्यक्ति ने कहा।

और फिर वे दोनों हंस पड़े। दोनों एक-दूसरे की तरह हारे हुए थे। दोनों एक-दूसरे की तरह वहमी हो गए थे।

फ़ैज़ वापस अपने कमरे में लौटा। आज उसने कुछ रुपये हार दिए थे। पर उसे लगा, इन रुपयों से उसने अपने सोए हुए मन को जगाने के लिए एक दवाई ज़रूर खरीद ली थी।

उसने अपने कमरे की बत्ती जलाकर एक नज़र कमरे को देखा। सामने की खिड़की के पास उसकी चारपाई पड़ी हुई थी। एक तरफ मेज़ पर रंगों की बोतलें थीं। एक तरफ दीवार के साथ तानपूरा टंगा हुआ था। उसका हाथ जेब में से एक रूमाल ढूंढ़ने लग गया। पहले उसने रंगों की बन्द बोतलों के ढक्कन पोंछे, फिर उसने तानपूरे

की चारों तारों पर पालती मारकर वैठे हुए जाले को उतार दिया।

रंगों की वोतलों में रंग पिघल गए। तानपूरे की तारों में स्वर जाग उठे। फ़ैज़ ने अपने लिए एक दवाई ढूंढ़ ली थी।

जिस तरह वे आंखें जो कई रातों से सोई न हों, ललचाकर नींद की टिकिया की ओर देखती हैं, फ़ैज़ रेस की तारीखों की ओर देखने लग गया। पहले-पहले वह अपने शहर की हद में हा रहा। फिर पूना तक पहुंचा। फिर दिल्ली, लाहौर तक और फिर वंगलौर, सिकन्दरावाद और कराची भी जाने लग गया।

"तुम जो कुछ कमाते हो, जाकर उनकें हवाले कर आते हो।" कभी-कभी फ़ैज़ का सवसे अच्छा दोस्त सादिक यह वात कहता, पर फ़ैज़ झट ही उसकी वात काट देता, "हवाले नहीं कर आता, वह मेरा वैंक है वैंक! मैं वहां जमा करा आता हूं...एक दिन...," फ़ैज़ एक सन्तोष से कहता, "एक दिन मैं उस वैंक में से सव कुछ निकाल लूंगा, व्याज-समेत निकाल लूंगा।...एक दिन मैं वहुत जीतूंगा।"

वम्वई, मद्रास और कलकत्ता में एक ही समय रेसें होती थीं, इसलिए वम्वई रहते हुए फ़ैज़ को कभी मद्रास और कलकत्ता में न जाना पड़ा। वाकी हिन्दुस्तान का कोई ऐसा शहर न था जहां रेस होती और वह न पहुंचता।

इंगलैंड ऐसी जगह थी जहां वह पहुंच नहीं सकता था। वहां जव रेसें होतीं, फ़ैज़ वम्वई में वैठा वहां की रेसों पर रुपये लगा देता। कभी-कभी वह सोचता, 'कहां इंगलैंड की रायल एकैडमी, कहां इंगलैंड की रेसकोर्स। दोनों जगह वहीं की। उसने किस रास्ते पर जाना था? वह किस रास्ते पर चल पड़ा है?" और कभी-कभी वह एक विवशता से अपने चारों ओर देखता और उसका मन चाहता, कहीं से कोई हाथ मेरी तरफ आए, मैं उसका हाथ पकड़ लूं और वह मुझे इस रास्ते से लौटाकर दूसरे रास्ते पर ले चले।

फ़ैज़ जिस रास्ते पर चलता रहा था, एक ज़िद्दी वच्चे की तरह,

उसी रास्ते पर चलता गया। कभी-कभी वह खड़ा हो जाता, पीछे की ओर देखता, जैसे सोचता कि अभी कोई पीछे से उसे मनाने के लिए आ रहा है।···पर रास्ता खाली होता। वह दांतों तले होंठ दबाता, एक पांव ज़ोर से रास्ते पर पटकता और फिर आगे चल पड़ता।

इसी रास्ते पर चलता हुआ वह बंगलौर पहुंचा था। एक होटल में ठहरा हुआ था। अपने कमरे के बरामदे में खड़ा होकर पता नहीं कौन-सा हिसाब लगा रहा था कि पास के बरामदे में उसकी नज़र पड़ी।

एक बड़ी बांकी मद्रासिन वहां खड़ी थी। गहरे जामुनी रंग की उसने साड़ी पहनी हुई थी। आंखों में काजल की खूब मोटी रेखाएं थीं। और वह बाहर खड़ी होकर अपने लम्बे काले बाल सुखा रही थी।

फैज़ के हाथों में अपने-आप कागज़ और पेंसिल पकड़े गए। वह उस मद्रासिन की छवि कागज़ पर उतारने लग गया। मद्रासिन ने उसे बार-बार अपनी ओर और फिर कागज़ की ओर देखते हुए भांप लिया था। पर उसने एक तरफ हटकर फैज़ के काम में कोई विघ्न न डाला।

फैज़ ने स्केच कर लिया। एक नज़र उस स्त्री को देखा। वह मुस्कराई और हाथ बढ़ाकर उसने फैज़ से कागज़ मांगा। फैज़ ने कागज़ पकड़ा दिया।

एक हाथ से अपने खुले बालों को सम्भालती हुई और दूसरे हाथ में कागज़ पकड़े हुए वह स्त्री काफी देर तक चुप खड़ी रही, और फिर जब उसने फैज़ की ओर देखा, उसकी आंखों में एक आदर था।

"आर्टिस्ट ?" उसने धीमे से कहा।

"हां।" फैज़ ने सिर हिलाया।

"यहां ?" उसने प्रश्न किया।

"रेस खेलने।" फैज़ ने उत्तर दिया।

वह खिलखिलाकर हंस पड़ी। फैज़ को लगा वह जैसे कह रही थी, 'घोड़ों को दौड़ा-दौड़ाकर तमाशा देखने की बजाय, तुम उनके स्केच क्यों नहीं बनाते ?'

उसी रात के समय उस बरामदे में फैज़ खड़ा था—दिन की रेस

में बहुत ज़्यादा हारा हुआ। इस समय उसका ध्यान साथवाले बरामदे की ओर नहीं था। फिर उसे लगा, जैसे किसीने उसे बुलाया हो। उसने चौंककर साथवाले बरामदे की ओर देखा। वह बांकी मद्रासिन उससे पूछ रही थी, "जीत गए ?"

"नहीं।" फैज़ ने सिर हिलाया।

"बहुत हार गए ?" उसने फिर पूछा।

"हां।" फैज़ ने सिर झुका लिया।

फिर उसने कुछ न कहा और अन्दर चली गई।

सुबह फैज़ के दरवाज़े पर दस्तक हुई। वही बांकी मद्रासिन खड़ी थी और कह रही थी, "हम जा रहे हैं, अभी। इसी गाड़ी से। अगर आप कभी मद्रास आएं तो हमारे घर दर्शन दें।" यह उसने कुछ रुक-रुककर कहा। वह साफ तौर पर हिन्दुस्तानी बोलना नहीं जानती थी।

"ज़रूर आऊंगा।" फैज़ ने उसका धन्यवाद किया।

"मेरा पता···" उसने एक तह किया हुआ कागज़ फैज़ के हाथ में पकड़ा दिया और चली गई।

फैज़ ने कागज़ ज्यों का त्यों मेज़ पर रख दिया और फिर बरामदे में खड़ा होकर नीचे देखने लगा। वह उसे जाते समय एक बार फिर देखना चाहता था।

नीचे एक टैक्सी खड़ी थी। अन्दर से सामान आता गया। टैक्सी में रखा गया। फिर एक व्यक्ति आया, दो व्यक्ति आए। उनके साथ एक बच्चा भी था। फिर वह स्वयं आई। एक बार उसने टैक्सी में रखे हुए सामान को गिना और बायें हाथ का दरवाज़ा खोलकर टैक्सी में बैठते समय एक बार ऊपर देखा। एक मुस्कराहट नीचे बरामदे में से ऊपर गई। एक मुस्कराहट ऊपर बरामदे में से नीचे आई।

टैक्सी चली गई। फैज़ देर तक वहीं खड़ा रहा। फिर एक हलकी-सी सांस लेकर कमरे में आया।

सामने मेज़ पर वही तह किया हुआ कागज़ पड़ा था। 'उसका पता।···' फैज़ को याद आया और उसने कागज़ खोला।

उस कागज़ पर पता ज़रूर लिखा हुआ था, पर साथ में दस-दस के पांच नोट टांके हुए थे।

'यह क्या ?' फैज़ इस प्रकार जल्दी से वरामदे में जाने लगा जैसे वह स्त्री कल की तरह वरामदे में खड़ी हो। फिर वह वहीं रुक गया। 'रात मैंने कहा था कि मैं वहुत हारा हूं।' फैज़ ने सोचा और उसकी आंखें भर आईं, 'उसने मेरी हार को वंटाना चाहा है।'

"यह क्या बनाया है मियांजी ?" एक दिन फैज़ ने स्टूडियो में पांव रखते ही कारदार से पूछा।

"दर्ज़ी से पगड़ी वनवाई है, देखो तो कैसी वनी है ?"

"किसकी पगड़ी वनवाई है ? मुल्लां दो प्याज़ा की ?" फैज़ हंस पड़ा।

"नहीं, शाहजहान की। वादशाह की। फिल्म शुरू कर रहे हैं न।"

"अच्छा, अच्छा, यह वादशाह की पगड़ी है ! मैं समझा था मुल्लां दो प्याज़ा की।"

कारदार ने फैज़ के व्यंग्य को समझा और मुस्कराया। कहने लगा, "यह सब तुम्हारा कसूर है। मेरा कोई कसूर नहीं।"

"मेरा कसूर ?"

"और क्या ? मैं कौन-कौन से काम करूं ? सैकड़ों काम हैं मेरे लिए। तुम्हें कितनी वार कहा है, अपनी ज़िद छोड़ दो। घर में बैठकर भी तो काम करते हो, यहां क्यों नहीं सारा दिन मेरे किसी कमरे में बैठ जाते ? कभी दर्ज़ियों के काम को भी देख लिया करोगे, उन्हें कुछ समझा दिया करोगे। उनके मन में जो आता है वना देते हैं।"

'मियांजी का ताना सच है।' फैज़ को लगा और दूसरे दिन से वह वहां स्टूडियो में ही काम करने लग गया।

पहली तारीख आई। सारे स्टाफ को तनखाहें मिलीं और क्लर्क ने फैज़ को बुलाकर एक हज़ार रुपया उसके हाथ में दे दिया।

"एक हज़ार महीने का ! इतने रुपये मैं क्या करूंगा ?" फैज़

नोटों को इस प्रकार देखने लग गया जैसे वे उसके परिचित न हों।

फ़ैज़ अपनी मेज़ के कागज़ों पर झुका हुआ था। उसे लगा, सामने खुले हुए दरवाज़े में से कोई कमरे में आया है। उसने समझा, स्टूडियो का ही कोई व्यक्ति होगा। कमरे में कुछ लेने या रखने आया होगा। वह अपने कागज़ों पर झुका रहा। काफी देर के बाद उसे आभास हुआ, जैसे कोई व्यक्ति उसके पास खड़ा है।

"तुम लीना!" फ़ैज़ ने सिर उठाकर देखा और देखता ही रह गया।

लीना मुस्कराकर कुर्सी पर बैठ गई।

"तुम किस तरह आई हो?" काफी देर के बाद फ़ैज़ ने पूछा।

"आ गई, बस आ गई।" लीना ने नीले फूलोंवाला स्कर्ट पहना हुआ था। ऊपर सादा नीला ब्लाउज़ था।

'बस आ गई' का उत्तर कोई क्या दे। फ़ैज़ चुप कर गया।

स्टूडियो का कोई व्यक्ति कभी किसी काम से आया, कभी किसी काम से। फ़ैज़ काम करता रहा। लीना चुपचाप बैठी रही।

आखिर फ़ैज़ को ही बोलना पड़ा, "फिर भी लीना, तुम आई किस तरह?"

"एक बार तुमने कहा था न···" लीना अपने हाथ में पकड़े हुए बटुए की रस्सी को अपनी अंगुलियों पर लपेटने लग गई।

"क्या? मैंने क्या कहा था?" फ़ैज़ को कुछ समझ न आया।

"तुमने मुझे कहा था न, शादी करने के लिए?" लीना ने एकबारगी ही कह दिया।

फ़ैज़ लीना के गोरे मुख की ओर देखता रहा। एक बार उसे लगा, वह इस मुख से परिचित नहीं था। उसने पलकें झपकीं। फिर उसे लगा, वह उस मुख को पहचानता था, पर इन शब्दों को नहीं पहचानता था।

"तुम्हारी मां अब मान गई है?"

"मां ? नहीं, मां तो नहीं मानी, पर मैं उससे चोरी तुमसे शादी कर लूंगी।"

फैज़ के मन के धागे उलझ गए। कभी वह किसी धागे को पकड़ता, कभी किसीको। पर किसीका सिरा हाथ में नहीं आ रहा था। और फिर सिरा उसके हाथ में आ गया—'यह शादी मेरे साथ नहीं, लीना यह शादी मेरी एक हज़ार रुपये तनखाह के साथ करना चाहती है।'

फैज़ ने एक आह भरी और कहा, "यह बात तुम तब भी कह सकती थी लीना! पर तुमने न कही। अब देर हो गई है...बहुत देर हो गई है।"

सजादहुसैन फैज़ का गहरा दोस्त था। जिस प्रकार वह स्वर और ताल के सागर में गोता लगाकर मोती ढूंढ लाता था, उसी प्रकार वह किसीके मन की गहराइयों में उतरकर मन के रहस्य ढूंढ लेता था। पर वह इतना गम्भीर था कि कुछ कहने की या कुछ पूछने की उसे ज़रूरत नहीं पड़ती थी।

आज उसने जब फैज़ का चेहरा देखा तो उसे रहस्य मिल गया। उसने कहा कुछ नहीं, केवल उसके पास बैठकर गाने लग गया।

फैज़ के मन को आज शान्ति नहीं थी। सजाद के स्वर जैसे उसे थपकियां देने लगे।

मन की आंखों में हौले-हौले नींद भर रही थी। स्वरों की लोरी धीमी पड़ गई। और धीमी पड़ गई।

अब फैज़ की हालत ऐसी थी जैसे कोई बच्चा रो-रोकर सो जाए और सोया हुआ भी सिसकियां लेता जाए। एक बार सजाद ने धीमे से पूछा, "क्या गाऊं फैज़ ?"

नींद की मादकता में ही फैज़ ने कहा :

वे तो चले गए हैं दिल
याद से उनकी प्यार कर

गम है तेरे नसीव में
मौत का इन्तज़ार कर।

सजाद गाता रहा। फैज़ सुनता रहा। गहरी शाम हो गई थी जिस समय सजाद फैज़ के घर से गया।

शाम हौले-हौले रात वन गई। फैज़ अपने कमरे में वहीं का वहीं वैठा रहा। वह भूल गया था कि उसे भूख लगी है। और नींद ?—उसे स्वयं भी पता नहीं था कि वह सोया पड़ा था या जाग रहा था।

यूनिस आई। उसने देखा, कमरे का दरवाज़ा खुला था, पर कमरे में रोशनी नहीं थी। 'शायद अन्दर कोई नहीं है।' उसने सोचा और लौटने लगी। फिर उसे खयाल आया, 'दरवाज़ा खुला है, फैज़ अभी आता होगा, कहीं नज़दीक ही गया होगा।' और वह कमरे के अन्दर चली गई।

यूनिस ने वत्ती जलाई। सामने दीवार से टेक लगाकर फैज़ वैठा हुआ था। वैठा हुआ नहीं, जैसे दीवार के साथ लगाकर रखा हुआ था।

"क्या हुआ है ?" यूनिस डर गई। उसने कमरे का दरवाज़ा वन्द कर दिया और फैज़ के पास आकर वैठ गई।

फैज़ ने यूनिस की ओर देखा, पर कहा कुछ नहीं। शायद अभी भी उसे पता नहीं था कि वह सोया हुआ था या जाग रहा था।

यूनिस फैज़ के पास वैठी रही। फिर उसने हाथ से फैज़ की वांह हिलाई।

कुछ देर फैज़ की वांहें उसी प्रकार ढीली-सी पड़ी रहीं। फिर शायद यूनिस की वांहों में से कोई चीज़ उसकी वांहों में गई। उनमें जान आ गई।

फैज़ ने यूनिस को अपनी दोनों वांहों में भर लिया। यूनिस ने कोई एतराज़ न किया। फैज़ ने उसे चोंटा, और चोंटा।

और फिर उसने मुख नीचा करके यूनिस की सांसों में से एक सांस भरी। जिस तरह किसी पकवान में से आ रही खुशबू से किसीको याद आ जाए कि उसे वहुत भूख लगी हुई है, उसने यूनिस को एक वार

चूमा···सौ वार चूमा। और चूम-चूमकर जैसे उसके होंठ थक गए। उसका दिल चाहता था कि आज वह अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को किसीमें समा दे, या कोई अपना सम्पूर्ण अस्तित्व उसमें समा दे।

······पता नहीं रात कितनी बीत चुकी थी जब यूनिस उठी। उसने सिलवटों से भरे अपने कपड़ों को साफ किया और फिर वह शीशे के सामने खड़ी होकर अपने बालों में कंघी फिराने लगी। इस बीच में उसने एक बार फैज़ की ओर देखा और हंसकर कहने लगी, "लीना कैसे बाल बनाती है ?···बड़े-बड़े घुंघरू डालकर ? कल मैं भी अपने बाल उस जैसे बनाऊंगी।"

फैज़ ने चौंककर उसकी ओर देखा, "क्यों यूनिस, तुम्हें अपने बाल इस तरह अच्छे नहीं लगते ?—इस तरह सीधे संवारे हुए और कसकर पीछे की तरफ बांधे हुए ?"

"अच्छे लगते हैं।" यूनिस ने कहा और शीशे के पास से हटकर फैज़ के पास खड़ी हो गई। फिर उसके कंधे के पास झुकी। उसके खुले हुए बाल फैज़ के ऊपर बिखर गए। हौले से कहने लगी, "तुम मुझमें लीना को ढूंढते हो न। इसलिए मैंने कहा था कि मैं कल से बाल भी उसी जैसे बनाऊंगी।"

फैज़ ने पहले यूनिस की हथेली को अपनी आंखों पर रख लिया। फिर उसकी हथेली को अपने होंठों से लगा लिया। कहने लगा, "नहीं यूनिस, तुम यूनिस ही रहना। लीना न बनना।···"

४

सामने की दीवार फैज़ को अपनी जगह से हिलती हुई लगी। कांपती हुई नहीं। वह ज्यों की त्यों थी, पर उसकी तरफ आ रही थी। उसने चौंककर दूसरी ओर देखा। वह दीवार भी उसकी तरफ आ रही थी। कमरे की चौड़ाई कम होती जा रही थी। और फिर उसे

लगा, एक तरफ की दीवार उसके पांव को छूने लगी थी और दूसरी तरफ की दीवार उसके सिर को छूने लगी थी। उसे लगा जैसे उसका कमरा कब्र वनता जा रहा था। 'अभी यह छत नीचे आ जाएगी··· और नीचे,' उसने सोचा, 'मैं सब तरफ से इसमें घिर जाऊंगा।' उसकी सांस तेज़ हो गई और फिर जैसे घुटने लगी।

उसके मन ने हिम्मत की। 'मेरे बायें हाथ खिड़की है···मैं इस में से छलांग लगा दूंगा···खिड़की में से क्यों ? मेरे दायें हाथ दरवाज़ा है और दरवाज़ा अभी खुला है। मैं दौड़कर दरवाज़े में से निकल जाऊंगा।' पर उसके शरीर ने उसके मन की हिम्मत का कहना न माना। वह वहीं का वहीं पड़ा रहा।

'अगर मैं अभी जल्दी से न उठा तो पता नहीं क्या हो जाएगा ?' फैज़ को डर लगा। उसकी मोटी-मोटी आंखों में उसकी नज़र सिकुड़ गई। उसे लगा, उसके बायें हाथ की खिड़की और दायें हाथ का दरवाज़ा कोई बाहर से बन्द कर रहा था। उसने घबराकर आंखें बन्द कर लीं।

धक्-धक्-धक्-धक् !—उसके दिल की आवाज़ उसके कानों में शोर मचाने लगी। आखिर दायें हाथ से उसने अपनी छाती को दबाया, जैसे हाथ से वह उस आवाज़ को धीमी कर देना चाहता हो।

उसकी अंगुलियों के बीच एक कागज़ के खड़खड़ाने की आवाज़ आई। फैज़ ने डरकर आंखें खोलीं। अंगुलियों को फिर हिलाया। कागज़ की फिर आवाज़ आई।

'यह क्या ?' उसने जैसे अपने-आप से पूछा। और फिर टटोलकर जेब में से कागज़ निकाल लिया। ध्यान से देखा, पर उसे लगा जैसे कुछ पढ़ा नहीं जा रहा था। अगर पढ़ा जाता था तो समझ नहीं आता था।

उसने अपनी मोटी-मोटी आंखों को ज़ोर लगाकर और खोला। लिखा हुआ था :

लड़के हो, शहज़ादे हो
सय्यद तुम्हारी जात है

चलो घट गई, आओ छट गई
नरसिंग नाम धराते हो
शेख़ सद्दो !
कल के लिए सट्टे का नम्बर बताओ
हश्र में दामनगीर हूंगा।

फ़ैज़ को बहुत दुःख-भरी हंसी आई। उसे याद आ गया, आज एक बूढ़े आदमी ने उसे बहुत उदास देखकर पूछा था, "बहुत हार गए हो सट्टे में ?" और फैज़ ने हां में सिर हिलाया था। बूढ़े ने उसकी बांह पकड़कर उसे अपने पास बैठा लिया था और कहा था, "मैं तुम्हें एक अमल बताऊं ? तुम जीत जाओगे।"

आज दोपहर के समय देखा हुआ उस बूढ़े का चेहरा फैज़ के सामने इस तरह आया जैसे वह बूढ़ा अभी भी उसके सामने हो। उस चेहरे पर कितनी ही झुर्रियां थीं और उन झुर्रियों में जैसे हंसी बह रही थी। उसके पोपले-से मुंह में से एक रहस्य प्रकट होना चाह रहा था, "मैं तुम्हें एक अमल बताऊं ? तुम जीत जाओगे।"

'सचमुच ?' फैज़ ने सोचा और फिर उस कागज़ को पढ़ा। बूढ़े की आवाज़ उसके कानों में गूंज रही थी, "यह अमल है शेख सद्दो का। आधी रात के समय सभी दरवाज़े बन्द करके इसे एक सौ तेतालीस बार पढ़ना। फिर तुम्हें शेख सद्दो नज़र आएगा। तुम उससे सट्टे का नम्बर पूछना। वह तुम्हें जो नम्बर बताए, तुम दूसरे दिन वही नम्बर खेल देना। जितने पैसे तुम्हारी जेब में हों, सभी लगा देना। फिर देखना, शेख सद्दो की करामात !"

करामात के शब्द ने फैज़ के अंगों में पता नहीं क्या भर दिया। उसने चारपाई से उठकर एक बार दरवाज़े को टटोला। दरवाज़ा बंद था। उसने अन्दर से कुण्डी लगा ली। फिर सतर्क होकर दोनों दीवारों को देखा। दीवारें अपने स्थान पर थीं। कमरा अपने उसी आकार का था। फैज़ ने कागज़ अपने हाथ में पकड़ लिया और उसे पढ़ने लगा। एक बार···दो बार···एक सौ तेतालीस बार।

फिर वह कान लगाकर प्रतीक्षा करने लगा। 'अभी कुछ होगा'''
अभी कोई करामात'''।' वह प्रतीक्षा करता रहा, प्रतीक्षा करता रहा। पर कुछ न हुआ। तंग आकर उसने हाथ का कागज़ मरोड़ दिया और दांत भींचकर अपनी चारपाई पर लेट गया। दूसरे दिन उसने उस बूढ़े को ढूंढ़ लिया।

"देख लिया तुम्हारा शेख सद्दो!" और फैज़ ने वह मरोड़ा हुआ कागज़ उसके सामने फेंक दिया।

"कुछ नहीं हुआ?" बूढ़े की झुर्रियों में अभी भी हंसी झलक रही थी।

"कुछ नहीं!" फैज़ ने खीझकर कहा।

"एक दिन में ही हार मान गए? तीन दिन तो पूरे करो।"

"अगर तीन दिनों में भी कुछ न हुआ।"

"होगा, ज़रूर होगा! हां, एक बात है।"

"क्या?"

"ज़्यादातर शेख सद्दो मर्दों को नज़र नहीं आता।"

"फिर?"

"तुम अमल करते रहो। अगर वह तुम्हें नज़र न आया तो औरत को नज़र आएगा'''वह औरतों को ज़रूर नज़र आता''' अपनी औरत को कहना, जब उसे सपने में कोई नम्बर दे''' वह याद रखे।'''"

"पर मेरी औरत नहीं है।"

"फिर'''फिर तो मुश्किल है।"

"पर शेख सद्दो मर्दों के पास क्यों नहीं आता?"

"यह एक बहुत लम्बी कहानी है।'''"

फैज़ का आज अपने काम में दिल नहीं लग रहा था। वह समय काटने के लिए बूढ़े के पास ही बैठ गया। कहने लगा, "चलो शेख सद्दो नहीं आता तो न सही। तुम मुझे उसकी कहानी ही सुना दो।"

बूढ़े ने कोई आनाकानी न की और फैज़ को शेख सद्दो की कहानी

नहीं थी।

"फिर उसने घबराकर विना नहाए ही वह दीया जला लिया। जिन्न आ गया, पर उसने शेख सद्दो को गले से पकड़ लिया और मार डाला।"

फैज़ ने इस सारी कहानी में कहीं-कहीं हुंकारा दिया था, पर जब कहानी खत्म हो गई तो वह बहुत खुलकर हंसा।

"अब तो समझ गए न कि शेख सद्दो औरत के पास क्यों जाता है। उसकी प्यास बीच ही में रह गई थी। इसलिए उसे जब भी कोई औरत बुलाती है, वह ज़रूर आ जाता है।..."

"सो पहले मैं औरत लाऊं और फिर यह अमल पढ़ूं। यह सौदा तो बहुत महंगा है।" फैज़ खिलखिलाकर हंस पड़ा।

काफी रात गए फैज़ के दरवाज़े पर दस्तक हुई। फैज़ ने देर तक दरवाज़ा न खोला। उसका एक दोस्त बार-बार दरवाज़ा खट-खटाता हुआ उसका नाम लेकर बुला रहा था।

"ठहर, यार!" काफी देर के बाद फैज़ ने अन्दर से जवाब दिया और फिर जब उसने दरवाज़ा खोला तो उसका दोस्त उसे देखता रह गया।

"यह क्या?" दरवाज़े में खड़े हुए दोस्त को जैसे दहलीज़ ने ही पकड़ लिया। फैज़ ने एक तहमद पहनी हुई थी जिसे वह हाथ से ठीक कर रहा था। इस तहमद के सिवा उसके शरीर पर कोई कपड़ा नहीं था। सिर से पांवों तक सारे शरीर पर सिंदूर के बड़े-बड़े टीके लगे हुए थे।

"कुछ नहीं यार, आ जाओ अंदर।" फैज़ ने कहा और दोस्त को अन्दर बैठाकर दरवाज़ा बन्द कर दिया। फिर हैरान-परेशान बने दोस्त की ओर देखता हुआ कहने लगा, "तुमने आकर विघ्न डाल दिया।"

"पर तुम कर क्या रहे थे?" दोस्त फैज़ को एक बार सिर से

पांवों तक देखता और फिर पांवों से सिर तक देखने लग जाता।

"कुछ नहीं यार। किसीने एक अमल बताया था। पर शर्त थी कि बीच में बोला न जाए। तुम आकर दरवाज़ा खटखटाने लग गए और मुझे बोलना पड़ा।"

दोस्त की हंसी बस में न आ रही थी। आखिर उसने गम्भीर होकर कहा, "तुम यह रास्ता छोड़ोगे या नहीं? हर वक्त तुम्हारे सिर पर सट्टा सवार है।"

"चलो खाली सिर से तो अच्छा है कि उसपर कोई सवार रहता है।" फैज़ ने उसकी बात को हंसी में टाल देना चाहा। पर आज उसके दोस्त ने बात को टलने न दिया। कहने लगा, "अब तुम काबू में आओगे। मैंने कर ली है सारी बात। बस अब तैयार हो जाओ।"

"मुझे काबू करना इतना आसान नहीं जितना तुमने सोचा है।"

"हां, आसान नहीं है। यह हमें पता लग गया है। तभी तो हमने इन्तज़ाम कर लिया है।"

"किसका इन्तज़ाम?"

"तुम्हें काबू करनेवाली का।"

"अच्छा, कहां से लाए हो ढूंढ़कर रात ही रात?"

"नहीं यार, यह हंसी की बात नहीं है। सुबह तुम तैयार रहना। तुम्हें मेरे साथ चलना है।"

"पर कहां?"

"जहां मैं ले जाऊं।"

"आंखें बन्द करके या आंखें खोलकर?" फैज़ हंसने लग गया।

"आंखें खोलकर तुमने बहुत देख लीं। अब आंखें बन्द करके।"

"अच्छा तो एक पट्टी ले आना। मैं आंखें बन्द कर चल दूंगा।"

"बस, बस, तुम्हें इतना ही करना है। बाकी सारी बात हो गई है। घर बहुत अच्छा है। उन्होंने तुम्हारे बारे में सब कुछ पूछताछ लिया है। बस अब एक नज़र तुम्हें देखना है।"

""

दोनों दोस्त कुछ देर और मज़ाक करते रहे।

दूसरे दिन फैज़ इन्कार करता रहा। पर उसका दोस्त आखिर उसे अपने साथ ले ही गया। रास्ते में उसने दस रुपये की मिठाई ले ली।

लड़कीवालों के घर में मर्दों की बैठक में फैज़ को चाय पिलाई गई। लड़की की बड़ी बहिन उसकी मां के स्थान पर थी। वह कुछ देर के बाद बैठक में आ गई। बातों-बातों में वह फैज़ के मुंह की ओर देखती रही और फिर उसके चेहरे पर एक रौनक आ गई।

"मैं चलूं अब ?" कुछ ठहरकर फैज़ ने पूछा।

फैज़ का दोस्त भी उठ खड़ा हुआ, पर लड़कीवालों ने उसे फिर बैठा लिया, "इन्हें तो जल्दी है, पर तुम्हें काहे की जल्दी है, ज़रा ठहरकर चले जाना।"

बूट पहनते हुए फैज़ ने अपने दोस्त की ओर देखा और हंसकर कहने लगा, "मुझे पता है कि किसलिए तुम्हें बैठा रहे हैं। जो कुछ पूछें, सच-सच बताना। बढ़-चढ़कर बातें न बनाना।" और फिर लड़की के बाप की ओर मुंह करके कहने लगा, "आप इससे क्या पूछेंगे। जो कुछ पूछना है, मुझसे पूछ लें।"

"नहीं, यह बात तो नहीं है। हमें जो कुछ पूछना था, पूछ चुके हैं।" लड़की के बाप ने ज़रा संकोच से कहा।

"फिर भी, मैं खुद ही आपको सब कुछ बता देता हूं। अगर आप पूछें कि मेरा बैंक में रुपया कितना है तो मैं बताता हूं, मेरा किसी बैंक में हिसाब ही नहीं है। और न ही मेरे पास कुछ जमा कराने लायक है।" फैज़ हंसने लग गया और फिर कहने लगा, "जो कुछ था वह मैंने रेसकोर्स में जमा करवा रखा है। किसी दिन अगर मेरा घोड़ा जीत गया तो सब कुछ निकलवा लूंगा।"

सभी हंस पड़े। फैज़ फिर कहने लगा, "आप पूछिए, मैं रहता कहां हूं ?—किसी कोठी-बंगले में नहीं। बस एक कमरे में रहता हूं। और बम्बई की ज़बान में तो उसे कमरा भी नहीं, खोली कहना चाहिए।"

फैज़ इस तरह की बातें करता और हंसता हुआ अपने दोस्त को वहीं छोड़कर वापस आ गया।

दूसरे दिन फैज़ ने हैरान होकर देखा, लड़कीवालों के घर से उसे मिठाई की थाली भी आ गई थी।

शाम को जब फैज़ का दोस्त आया तो फैज़ विचारों में डूबा हुआ था। कहने लगा, "यह बात तो पक्की हो गई लगती है।"

"तो और नहीं ? तुम्हें मैंने बताया तो था कि उन्होंने सब कुछ पूछताछ लिया है। सिर्फ तुम्हें एक नज़र देखना था, सो उन्होंने कल देख लिया।"

"पर मैंने तो कुछ नहीं देखा।"

"तुम्हें क्या देखना है। बस लड़की है, अच्छी-भली लड़की है।"

"नहीं यार, मुझे दिखा दो, बेशक एक झलक ही दिखा दो।"

"यह दिखाने की बात तो मुश्किल है। पर्दा है बहुत…"

"फिर ?"

"पता करूंगा, अगर कोई तस्वीर हुई तो ?"

"हां तस्वीर हो, चाहे छोटी-सी ही हो।"

"पर तस्वीर से क्या पता लगेगा ?"

"क्यों नहीं लगेगा। मैं आर्टिस्ट हूं, छोटी-सी तस्वीर से भी पता लगा लूंगा।"

फैज़ के दोस्त ने जैसे-तैसे करके उसे एक छोटी-सी तस्वीर ला दी। फैज़ देखता रहा, देखता रहा। और फिर उसने एक आह भरकर मुंह फिरा लिया। कहने लगा, "यह बात नहीं बनेगी !"

"कुछ पता भी तो लगे !" फैज़ का दोस्त परेशान हो गया।

"उसका कोई कसूर नहीं है। मेरे हाथ पर शायद शादीवाली लकीर ही कोई नहीं है।"

"अब यह बात नहीं हो सकती फैज़। मैं बीच में ज़ामिन हूं। उन्होंने सब कुछ पक्का कर लिया है। आखिर कोई बात भी तो बताओ।"

"मुझे कोई बात ही तो नहीं मिलती इस तस्वीर में। आदमी में कुछ तो हो।..."

"तुम्हें आदमी में जो कुछ चाहिए वह कागज़ों पर अपनी तस्वीरों में डाल लेना। यह बात तो अब इसी तरह ही होगी।"

"अच्छा, फिर इसी तरह ही सही। पर एक बात है।..."

"क्या ?"

"मुझे बाद में कोई उलाहना न दे कि आज रात फैज़ घर नहीं आया, या घर में आटा नहीं है और उसने लाकर नहीं दिया।..."

फैज़ का दोस्त हार गया। कहने लगा, "नहीं तुम्हारी मर्ज़ी तो न सही फिर। उन्होंने लड़की को फेंकना तो नहीं है।"

दोस्त चला गया। आज फैज़ को अपनी मां याद आ रही थी। सीधे-सादे नक्शोंवाली एक स्त्री। उसे आज की लड़की की तस्वीर याद आ रही थी। उसके नक्शों में कोई बात नहीं थी। उसकी मां एक नेक औरत थी, पर उसकी झोली में सारी उम्र बेइन्साफी पड़ती रही। 'यह लड़की भी नेक लड़की होगी और अगर मैंने इसके साथ शादी कर ली तो मुझसे भी इसके साथ बेइन्साफी हो जाएगी।' फैज़ ने सोचा और फैसला कर लिया, 'नहीं, मैं इसके साथ शादी नहीं करूंगा। मैं इसके साथ बेइन्साफी नहीं करूंगा।'

पड़ोसियों के घर में झाड़ू दे रही एक मराठिन बाई को देखकर फैज़ को एक बात सूझी। उसने बाई को आवाज़ दी।

"यह मेरा कमरा साफ कर दो। तुम्हें दो घण्टे की फुरसत होगी ?"

फैज़ ने कहा, और फिर अपने कमरे की तरफ देखा। बोतलें, डिब्बियां, कागज़, पुट्ठे, फटी-पुरानी और बहुत-सी चीज़ें...पता नहीं ये सब चीज़ें कितने वर्षों की धूल को गले से लगाकर बैठी हुई थीं। फैज़ ने बाई की तरफ देखा और कहने लगा, "दो रुपये दूंगा।"

बाई ने झाड़ू पकड़ा, पर फिर एक तरफ रख दिया, "अच्छा,

ले कमरे की सभी चीजें वाहर निकाल लें। यह दरी भी तो उठानी ड़ेगी।"

दो घण्टे छोटी-छोटी चीजें बाहर रखने में ही लग गए। और व उसने दरी उठाकर फर्श की मिट्टी को देखा तो हंसकर पूछने गी, "साहब, कितने बरसों के बाद कमरा साफ करा रहे हो?"

फैज़ हंस पड़ा और अंगुलियों पर कुछ गिनकर कहने लगा, शायद सात बरसों के बाद।"

"सात बरस!" बाई के मुख पर मिट्टी की एक तह जम रही ी और अब एक हैरानी की तह जम गई।

बहुत-से कमरोंवाली इस इमारत के दरवाज़े के सामने कूड़ा-रकट डालने के लिए लोहे का एक बहुत बड़ा ड्रम था। वह जब मट्टी से भर गया तो बाई ने हांफकर पूछा, "साहब, यह बाकी ी मिट्टी कहां डालूं?"

बाज़ार के किसी दूसरे ड्रम में मिट्टी डालकर बाई ने जब लौट-कर कमरे में चीजें रख दीं तो फैज़ ने दो रुपये के बजाय पांच रुपये बाई के हाथ पर रख दिए और कहने लगा, "असल में मुझे तुमसे एक और काम है।"

बाई ने ज़रा घबराकर फैज़ के मुंह की ओर देखा।

फैज़ मुस्कराया। कहने लगा, "घबराने की बात नहीं है। मैं तुम्हें तीन-चार बोल सिखा देता हूं। इन्हें तुम रात को सोते वक्त कमरे का दरवाज़ा बन्द करके पढ़ती रहना। और फिर पढ़ते-पढ़ते सो जाना। तुम्हारे सपने में एक आदमी आएगा। तुम उससे सट्टे का नम्बर पूछना। और वह जो नम्बर बताए, याद रखना। कल मैं तुम्हें पांच रुपये और दूंगा।"

देर तक बाई को कुछ समझ न आया। बस इतनी बात समझ आई कि आज उसे पांच रुपये मिल गए थे और कल भी उसे पांच रुपये मिलेंगे। फिर फैज़ ने हौले-हौले सब कुछ बाई को समझा दिया और ये पंक्तियां भी उसे याद करा दीं:

लड़के हो शहज़ादे हो
सय्यद तुम्हारी जात है
चलो घट गई, आओ छट गई
नरसिंग नाम धराते हो।
शेख सद्दो!
कल के लिए सट्टे का नम्बर बताओ
हशर में दामनगीर हूंगा।

दूसरे दिन फ़ैज़ बहुत बेसबरी से प्रतीक्षा करने लगा। सुबह हुई, बाई आई।

"साहब, बहुत रात गए तक मैं मन्तर पढ़ती रही।"

"फिर?" फ़ैज़ ने जल्दी से पूछा।

"फिर मुझे सपना आया कि एक आदमी मेरी खोली में आकर मेरी खटिया पर बैठ गया है।"

"फिर तुमने उससे नम्बर पूछा?" फ़ैज़ की सांस तेज़ हो गई।

"यह तो मैंने अभी नहीं पूछा था। मैंने पूछा था, 'तुम कौन हो?' वह कहने लगा, 'शेख सद्दो।'"

"सो आ गया शेख सद्दो?" फ़ैज़ की मोटी-मोटी आंखों में उसकी नज़र फैल गई।

"मैंने कहा, 'तुम पराये मर्द मेरी खटिया पर क्यों बैठ गए हो?' और वह उठकर चला गया।"

"हत् तेरी की!" फ़ैज़ ने हथेली पर अपना माथा थाम लिया।

बन्द दरवाज़े को हाथ से खोलकर फ़ैज़ का एक दोस्त असर अभी दहलीज़ ही में था कि हाथ की अखबार को झण्डे की तरह लहराकर कहने लगा, "फ़ैज, तुमने कमाल कर दिया।..."

फ़ैज़ ने प्रश्न-भरी आंखों से उसके मुंह की ओर देखा, "क्या कमाल कर दिया! अन्दर तो आओ।..."

फ़ैज़ के दोस्त ने फ़ैज़ को अपनी बांहों में ले लिया और कहा,

"फिल्मी संसार के इतिहास में तुम्हारा नाम हमेशा ज़िन्दा रहेगा।" और उसने स्क्रीन का एक पन्ना खोलकर फैज़ के सामने रख दिया।

"अच्छा, छप गया ?" फैज़ ने ध्यान से देखा और कहा; "अच्छा छप गया है।"

"आज तक किसीने ले-आउट में पेन-स्केच नहीं दिया था। सभी आर्टिस्ट छपी हुई तस्वीरों को जोड़कर ले-आउट बनाते रहे। यह पहल तुमने की है। सिर्फ तुमने की है।"

फैज़ की आंखों में एक चमक आई। और फिर उसने नम्रता से अपने दोस्त का धन्यवाद किया।

"यह कहने की बात ही नहीं है फैज़। तुम्हारे जैसी लकीर नहीं खींच सकता कोई।"

"यह सब कुछ ठीक है यार, पर जो कुछ मैं चाहता हूं, वह अभी मैं कर नहीं रहा। या यूं कहूं कि वह मुझसे हो नहीं रहा।" फैज़ कुछ सोचने लगा।

"तुम क्या करना चाहते हो ?"

"मैं···" फैज़ ने बायें हाथ की दो अंगुलियों में एक बार अपने माथे को दबाया, "मैं अपने बाद कोई बहुत बड़ी चीज़ छोड़ जाना चाहता हूं—उस चीज़ के लिए मेरे अन्दर बहुत-कुछ खौल रहा है।···"

अमर फैज़ के चेहरे को एकटक देख रहा था। फैज़ ने अपने मन की बात को छुआ, "मैं रागों को पेंट करना चाहता हूं।"

"रागों को ?"

"उस तरह नहीं जिस तरह पहले लोग करते आए हैं। मैं एक-एक राग को ऐसी शक्ल देना चाहता हूं कि जो कुछ उस राग के स्वरों को सुनकर हमारे···हमारे मन पर तारी हो जाता है, वही कुछ उसकी शक्ल देखकर भी हमारे मन पर हो—बिलकुल वही कुछ।

"अब जैसे मेरा राग है। सुबह के वक्त मन का टिकाव, इबादत की हालत।···मैं सोचता इस तरह हूं···" फैज़ ने अपने दोस्त की आंखों में देखा। उसकी आंखें उसके हर शब्द को पी रही थीं।

फैज़ ने कहा, "एक राग मैं एक बार बड़े गुलामअलीखां से सुनूं, फिर उसी राग को एक बार अमीरखां से सुनूं, फिर उसी राग को एक बार सजादहुसैन से सुनूं···और देखूं मेरे मन की हालत जो एक बार होती है, क्या वही दूसरी बार भी होती है ? और वही तीसरी बार भी···फिर मैं उसमें से एक तत्त्व निकाल लूं। जो कुछ निकले, उसे मैं कागज़ पर रंगों से पेंट करूं।"

"तुम जो कुछ सोचते हो, अगर कभी कर दो···"

"यही तो मैं सोचता हूं, अगर मैं कभी कर दूं···"

५

हैदराबाद के स्टेशन पर फैज़ के दोस्त ने उसका स्वागत किया। एक अच्छे होटल में उसने फैज़ के लिए कमरा लिया हुआ था।

"रेस तो कल होगी, आज के दिन फुरसत है।" फैज़ ने कमरे में सामान रखकर चाय का प्याला पीते हुए कहा।

"कहीं चला जाए !"

"हां, ज़रूर !"

"यहां दो बहिनें हैं, बहुत अच्छा गाती हैं।"

"सच ? चलो, अभी चलें।"

"पर अभी दोपहर का वक्त है। गाने-बजाने का वक्त तो शाम को होता है।"

"कोई बात नहीं यार—कहां चलना होगा ?"

"महबूब की मेंहदी।"

फैज़ और उसका दोस्त जिस समय उस बस्ती में पहुंचे, गीत और साज़ सचमुच सोए हुए थे। बैठक खुली थी। एक तरफ कुछ साज़ पड़े हुए थे। दोनों बहिनें, जिनकी मशहूरी सुनकर फैज़ शाम की प्रतीक्षा नहीं कर सका था, एक तरफ सफेद दीवान पर अलसाई

ई वैठी थीं और एक चार साल की बच्ची पास खेल रही थी।

फैज और उसका दोस्त उस बच्ची से बातें करते, खुश होते और उसे हंसाते हुए उसे कुछ गाने के लिए कहने लगे। बच्ची ने तुतलाते हुए शब्दों में तीन-चार फिल्मी गीत गाए। गीत भी पूरे नहीं और उच्चारण भी तुतलाता हुआ था। पर स्वर जैसे किसी से मिला हुआ था।

फैज ने वच्ची को प्यार किया और पचीस-तीस रुपये उसकी हथेली पर रख दिए। फिर फैज को उसके दोस्त ने कहा, "यार, तुम ही कुछ गाओ।"

"हां, हां, जरूर गाओ।" दीवान पर बैठी दोनों बहिनों ने अपनी अलसाई हुई वांहों से अंगड़ाई ली और कहा। शायद वे सोच रही थीं, अच्छा है, खुद ही कुछ गा-वजा ले। वरना इस दोपहर के वक्त हमें कोई फरमाइश न कर दे।

"कोई सारंगी वजानेवाला···" फैज ने इधर-उधर देखा।

"जा वेटी, मियांजी को बुला।" दोनों बहिनों में से एक ने उस छोटी वच्ची को कहा।

मियांजी ने आकर सारंगी पर गज फिराया। फैज ने भीम-प्लासी के स्वर छेड़े। मुखड़ा था—"हे वीरा वाहमन।"

दो-एक वार ही फैज ने आवाज़ लगाई थी कि दोनों बहिनें दीवान पर से उठ खड़ी हुईं। और फैज के सामने आकर बैठते हुए, एक साथ ही कहा, "एक मुद्दत के वाद ऐसे स्वर कानों में पड़े हैं।"

"तवलेवाले को वुलाओ।" एक वहिन ने जल्दी से कहा और एक मोर को नाचते हुए देखकर दूसरे मोरों के पंख झूम उठे।

कुछ ही देर के वाद फैज ने गालिव की गज़ल छेड़ी—"मुद्दत हुई है यार को···।" दूसरी पंक्ति एक वहिन ने पकड़ ली और तीसरी दूसरी वहिन ने। एक ही गजल तीन सुरीले कण्ठों में झनकने लग गई। एक गज़ल, फिर दूसरी, फिर तीसरी। शाम हो गई।

"परसों आपकी दावत हमारे यहां।" दोनों वहिनों ने फैज का

जाते समय बड़े सम्मान से कहा।

"परसों···परसों तक पता नहीं किस तरह हूंगा।" फैज़ मुस्कराया।

"क्यों ?"

"कल मैं रेस खेलूंगा। अगर मैं जीत गया तो परसों ज़रूर आऊंगा।"

"नहीं तो ?"

"फिर अल्लाह मालिक।"

दोनों बहिनें खिलखिलाकर हंस पड़ीं। और फिर कहने लगीं, "नहीं नहीं, ज़रूर आइएगा—हमारे कान भी अच्छे रागों के लिए प्यासे रहते हैं।"

"तकल्लुफवाली कोई बात नहीं, अगर मैं आ गया, जो कुछ पका होगा, मैं खा लूंगा।"

दूसरे दिन फैज़ हार गया। बहुत हार गया। और वह सोच रहा था, 'इस बार मैं सिर्फ रुपये ही नहीं हारा हूं, एक दावत भी हार गया हूं। मैं एक स्वरों की महफिल भी हार गया हूं।'

यूनिस की अपनी बिरादरी में ही कहीं शादी हो गई थी। इस शादी ने फैज़ और यूनिस की दोस्ती के माथे पर कोई बल नहीं डाला था। इस दोस्ती ने कभी शादी के रास्ते पर चलना नहीं चाहा था। इसलिए इसका माथा अब भी साफ था।

आज यूनिस अपने मायके आई हुई थी। मां को साथ लेकर फैज़ से मिलने आ गई।

बैठे हुए अभी कुछ ही देर हुई थी कि फैज़ का सबसे अच्छा दोस्त एम० सादिक आ गया।

"फैज़, आज बेशक तुम कितना भी हंसो तुम्हारी उदासी नहीं छिप सकती। क्या बात है ?" सादिक ने कुछ ही मिनटों के बाद पूछा।

फैज़ अभी बोला नहीं था, यूनिस कहने लगी, "आज मरम्मत

हुई लगती है।"

"हार गए हो कहीं ?" सादिक ने फ़ैज़ के चेहरे की ओर देखा।

"हां, रेस में।"

"कितने रुपये ?"

"पास हो तो मैं सैकड़ों को कुछ नहीं गिनता पर आज पास कुछ नहीं है। कल ज़बानी ही खेला था। अभी बुकी आता होगा पैसे लेने के लिए।"

"तुमने अपनी जेब तो टटोल ली, कभी दोस्तों का दिल भी टटोल लिया करो।" सादिक ने उलाहना देते हुए कहा।

"क्या मतलब ?"

"तुम्हें याद नहीं क्या, हमने अपना सेफ साझे में रखा हुआ है। जिस तरह उसे मैं खोल सकता हूं उसी तरह तुम भी खोल सकते हो।"

"पर..."

"कभी इस 'पर' को भूल भी जाया करो।"

पास बैठी हुई यूनिस ने फ़ैज़ को उलाहना देते हुए कहा, "तुमने मुझे बुकीवाली बात तो नहीं बताई थी फ़ैज़ ?" वह सोच रही थी कि फ़ैज़ ने अपनी जिस चिन्ता का ज़िक्र सादिक से किया, उससे क्यों न किया ? क्या वह सादिक को उससे ज़्यादा दोस्त समझता है ?

फ़ैज़ कितना भी संकोच करता, पर उसकी ये दोनों दोस्तियां दिन के प्रकाश की तरह थीं। कोई सभी दरवाज़े बन्द करके भी इस प्रकाश को अन्दर आने से रोक नहीं सकता था।

"उठो, जाकर सेफ में से रुपये निकाल लाओ।" सादिक ने कहा और फिर घड़ी देखी। "पांच बजकर बीस मिनट हो गए हैं। तुम्हारे पहुंचने तक सेफ बन्द तो नहीं हो जाएगा ? साढ़े पांच बजे बन्द होता है।"

यह बात अभी सादिक के मुंह में ही थी कि बुकी आ गया।

यूनिस ने जल्दी से अपनी अलमारी की चाबी फ़ैज़ को दी, "वही अलमारी है जिसमें तुमने अपने हाथों से कई बार कुछ रखा और

कई बार निकाला है।"

"जाओ, ले आओ जाकर। सुबह सेफ में से निकालकर वापस कर देना।" सादिक ने कहा।

यूनिस की अधिकांश चीजें यद्यपि अब उसके ससुराल में थीं, पर उसकी एक अलमारी अभी भी उसकी मां के घर में थी। घर पड़ोस में ही था। यूनिस और उसकी मां वहीं बैठी रहीं। फैज़ चाबी लेकर चला गया। और जितनी जरूरत थी रुपये ले आया।

फैज़ के आते यूनिस ने उसके कमरे में चाय तैयार कर रखी थी। फैज़ ने बुकी को रुपये दिए और यूनिस के हाथ से चाय का प्याला पकड़ा।

फैज़ के मन में विचार चक्कर लगाने लगे, 'मैं इन दोनों का देनदार हूं। ये दोस्त जो मुंह से कुछ नहीं कहते, इनकी जेबों का कर्ज़ तो मैं अदा कर दूंगा, पर इनके मन का कर्ज़ ?...'

विचार चक्कर लगाते रहे। कभी कुछ लेकर आते, कभी खाली हाथ। आखिर फैज़ ने मन में वादा किया, 'अब मैं कभी सट्टा नहीं खेलूंगा। अब मैं कभी रेस पर नहीं जाऊंगा।'

फैज़ के मन में आया कि वह यह बात आज मुंह से कह दे। 'नहीं, नहीं, यह बात मुंह से नहीं कहनी, बल्कि इसे मन में उतारना है— बहुत गहराई तक उतारना है।' फैज़ ने सोचा और फिर चुप बना इस बात को चाय के घूंटों के साथ अपने अन्दर उतारने लगा।

फैज़ किसी आते-जाते के हाथ कभी रुपये, कभी कोई कपड़ा और कभी कोई और चीज अपने वालिद को भेजा करता था। पर यह नियमित रूप से नहीं था।

कभी-कभी फैज़ के वालिद उसे एक हलकी-सी चेतावनी भेज देते थे कि मैं तुम्हें तुम्हारा फर्ज याद कराता हूं। पिछली बार जब उनका इस किस्म का खत आया था तो फैज़ ने एक उलाहने के तौर पर दो पंक्तियां लिख दी थीं कि उन्होंने अपनी बीबी के साथ और अपने-

नन्हे-नन्हे मासूम बच्चों के साथ कौन-सा फर्ज पूरा किया था कि आज वे दूसरे को उसका फर्ज याद करा रहे हैं।

आज फैज़ को उनका बहुत दुःख-भरा पत्र आया था कि वे अपनी बीवी की क्या मदद करते। उनकी बीवी ने लोगों का सीना-पिरोना करके और लोगों के बर्तन साफ करके उनकी इज़्ज़त मिट्टी में मिलाई थी।

फैज़ का मन उसकी कलम की स्याही में से उबल पड़ा। उसने पत्र लिखा :

"आप एक शायर हैं और मैं आपके सामने एक बहुत छोटा-सा आदमी हूं। लोग आपकी कलम का लोहा मानते हैं; पर क्या आप मेरी एक बात का जवाब दे सकेंगे ?—मेरी मां ने लोगों के कपड़े सिए, लोगों के बर्तन साफ किए, और रात-दिन एक करके आपके बच्चों को पाला-पोसा। आप कहते हैं, इस तरह उसने आपकी इज़्ज़त मिट्टी में मिला दी। पर अगर मेरी मां यह न करती तो वह किसी बाज़ार में बैठ जाती। तब आपको यह अच्छा लगता ?

"हज़रत उमर बादशाह था, पर बाज़ार में चलते हुए वह बूढ़ों और मोहताजों के सिरों पर से बोझ उतारकर खुद उठा लेता था। क्या वह बादशाही की तौहीन करता था ? औरंगज़ेब के पास क्या दौलत की कमी थी ? पर वह किताबत करता था। और जो पैसे अपने हाथों की मेहनत से कमाता था, उनकी वह रोटी खाता था। क्या उसके हाथों की मेहनत उसके ताज को नीचा दिखाती थी ?…"

फैज़ ने एक लम्बा पत्र लिखा और फिर उसे डाकखाने में डालने के लिए चल पड़ा।

सामने सड़क पर लीना आ रही थी। उसके साथ कोई आदमी था और वह हंस रही थी। फिर उसकी नज़र फैज़ पर पड़ी। उसकी हंसी और चमक उठी। उसने दायां हाथ हिलाकर फैज़ को कहा, "हैलो !"

फैज़ को लगा, लीना एक दहकता हुआ कोयला थी। समय की

हवा ने उसे और भी भड़का दिया था और उसने आज अपने सुर्ख शरीर पर से फूंककर, झाड़कर राख उसकी ओर फेंकी थी, "हैलो!"

फैज़ ने मुंह दूसरी तरफ फिरा लिया। सामने चौक में लगे हुए लेटरबाक्स में पत्र डाल दिया और वापस अपने घर की ओर चल पड़ा।

घर आने पर उसके कमरे के सामने उसके मोहल्ले की एक यहूदी लड़की का छोटा भाई उसका पत्र लेकर खड़ा था। फैज़ ने उस लड़के को अपने कमरे में बैठाया और फिर पत्र पढ़ा।

यह लड़की फैज़ को कभी-कभी पत्र लिखा करती थी। यह पत्र साधारण-सा होता था जिसमें उसके व्यवहार का आभार माना होता। पर आज के पत्र में प्यार की बातें थीं और साथ में उसने फैज़ को अपना एक बहुत सुन्दर चित्र भेजा था।

वास्तव में इस लड़की के साथ पिछले दिनों में एक दुर्घटना हो गई थी। मोहल्ले के एक व्यक्ति ने उसके साथ विश्वासघात किया था। वह लड़की बहुत दुःखी हुई थी। इस मोहल्ले में वही कुछ हुआ था जो हर जगह हुआ करता है—लोगों ने मर्द की गुस्ताखी को तो माफ़ कर दिया था, पर उस लड़की की विवशता को माफ़ नहीं किया था। वह जिधर से गुज़रती थी कोई न कोई आदमी उसकी ओर अंगुली उठाकर हंसता था। या कोई दूसरे के कान में, उसकी ओर देखकर कानाफूसी करने लग जाता था। लड़की तंग आकर सिर नीचा कर लिया करती थी।

फैज़ के मन में इस लड़की के प्रति एक सहानुभूति पैदा हुई। उसने शरारती आंखों को जहां तक हो सका रोका और लड़की का आना-जाना कुछ आसान कर दिया था।

फैज़ का आभार माननेवाली इस लड़की ने आज अपने पत्र में प्यार की बात की थी और उसे अपना एक चित्र भेजा था।

फैज़ कुछ देर चित्र को देखता रहा और फिर उसने कागज़-कलम लेकर कुछ पंक्तियां लिखीं—"हमारी यह जान-पहचान जिस जगह पर खड़े होकर हुई है, यह इन्सानी हमदर्दी की जगह है। इसके पांवों नीचे मुहब्बत की ज़मीन नहीं है। अगर मैंने तरस को रिश्ते का रू

दे दिया तो तुम्हारी ज़िन्दगी से इन्साफ नहीं होगा। तुम्हें ज़िन्दगी में मुहब्बत मिले, इन्साफ मिले, यही मेरी दुआ है। यह तुम्हारा मेरी तरफ लिखा खत, और यह तुम्हारी तस्वीर कहीं मुझे कभी किसी मुश्किल में डाल दे, इसलिए वापस भेज रहा हूं।"

और फैज़ ने सभी चीज़ें एक लिफाफे में डालकर उस छोटे लड़के के हाथ वापस भेज दीं।

किसी अज्ञात शक्ति ने फैज़ के मन का साज़ अपने हाथों में पकड़ा। किसी तार को जंग लगा हुआ था, कोई तार टूटी हुई थी। उसने सभी पुरानी तारें उतार दीं, नई तारें डालीं, चाबियां कसीं। फिर उसने उन्हें सुर में किया और अपनी पतली-पतली सुन्दर अंगुलियां उन तारों पर चलाने लग गया। कभी कोई राग छू देता, कभी कोई।

फिर फैज़ के कानों में अपने एक प्यारे दोस्त रफीक गज़नवी के शब्द भर गए :

रैन का सपना
किस से कहूं पुकार
रैन का सपना…
सोवत-सोवत जाग उठे जब
कहूं न पायो अपना।
रैन का सपना…

फैज़ के पांवों अपने-आप अमीरखां की सीढ़ियां चढ़ गए।

"मैं रागों को पेंट करना चाहता हूं, आप राग छेड़िए, कोई राग छेड़िए।"

स्वरों के सरोवर में फैज़ का मन आज कमल की तरह खिल रहा था। वह शाम को सजादहुसैन के घर चला गया।

"आप राग छेड़िए, कोई राग छेड़िए।…"

आज फैज़ को लग रहा था, जैसे वह कई दिनों से, कई वर्षों से, कई सदियों से मरुस्थल में चलता आ रहा था। और आज उसके पांव

अचानक किसी हरियाली वादी में चले गए थे। पांवों के नीचे मखमल जैसी घास थी। सिर पर रंगीन पत्तों-फूलोंवाले हरे पेड़ झूल रहे थे। सामने ठंडे बिल्लौरी पानी की धाराएं बह रही थीं।

अपने कमरे की छोटी-सी मेज़ पर रंगों की बोतलों को संवारते हुए उसने कई छोटे-छोटे कागज़ पड़े हुए देखे। एक को खोला, लिखा हुआ था :

हनुमान का अमल
हनुमान हठीला
लोहे का लट्ठ
बजरंग का किला
साठ पुतली सेंचूं
रंग कोट का बाण
दौड़ सट्टे बाज़ार की ओर
ओपन-क्लोज़ की खबर ला

फैज़ ने दूसरा लिया। खोला। लिखा हुआ था :

काली का अमल
काली महाकाली
ब्रह्मा की बेटी
इन्द्र की साली
काली कलकत्तेवाली
तेरा वचन न जाए खाली
सट्टे का नम्बर देकर जाए
तो काली कलकत्तेवाली कहलाए।

फैज़ ने फिर तीसरा कागज़, चौथा कागज़...और दूसरा कोई भी कागज़ न खोला। सभी कागज़ इकट्ठे करके अपने हाथों में मरोड़े। फिर उन्हें देखा। उसे लगा, वह एक दोराहे पर खड़ा था। सामने दो सड़कें थीं। दोनों सड़कें उसे बुला रही थीं।

एक सड़क पर अच्छा प्रकाश था। रंगबिरंगे फूलोंवाले स्कर्ट पहन-

कर गोरे रंग की कुछ यहूदी लड़कियां वहां चल रही थीं। कुछ आगे मर्दों की भीड़ थी। किसीकी आवाज़ आ रही थी, "ओपन तीन, क्लोज़िंग पांच।" और कई लोग अपने हाथों में नोट उछाल रहे थे। कुछ और आगे बहुत सुन्दर चमकते हुए घोड़े चहलकदमी कर रहे थे।

दूसरी सड़क पर अन्धकार था। दूर तक एक सघन अन्धकार। और एक मौन। फ़ैज़ ने ध्यान से देखा, कान लगाए। दूर बहुत दूर एक चीज़ चमक रही थी। फ़ैज़ की मोटी-मोटी आंखों में एक दृष्टि फैल गई। कुछ पहचाना नहीं जाता था। कोई चीज़ थी—कभी-कभी बहुत चमक उठती थी, और फिर उसमें कोई रंग झिलमिलाने लग जाता था। कभी कोई रंग, कभी कोई रंग। फिर फ़ैज़ के कानों में एक झनकार की आवाज़ आई—अन्धकार की कोख में से हलके-हलके, मद्धम-मद्धम स्वर जाग रहे थे।

फ़ैज़ ने फिर पहली सड़क की ओर देखा, फिर दूसरी सड़क की ओर देखा।...फिर पहली सड़क की ओर देखा, फिर दूसरी सड़क की ओर देखा।

यहूदी लड़कियां मुस्कराईं।

अन्धकार की कोख में से स्वर ऊंचे उठे।

बहुत-से नोटों की खड़खड़ की आवाज़ हुई।

बहुत-से रंगों के चेहरे चमके।

फ़ैज़ ने सिर झुकाकर अपने पांवों की ओर देखा। उसके पांव एक दोराहे पर खड़े थे। उसने फिर सिर ऊंचा किया। एक नज़र दोनों सड़कों की ओर देखा और फिर बावलों की भांति उस अन्धेरी सड़क पर दौड़ पड़ा, जहां दूर...दूर कोई चीज़ चमक रही थी।

कसक

उसे हमारे दफ्तर में काम करते छः महीने पूरे होने को थे। पर उसके बारे में हमारे दफ्तर के सभी लोग कहते थे कि उसने मामूली दुआ-सलाम से अधिक किसीसे कोई सरोकार न रखा था। कैन्टीन में भी वह अकेला बैठता था, और काफी के एक प्याले के अलावा किसीने उसे कोई और चीज़ शौक के साथ लेते नहीं देखा। प्रायः वह अपना ध्यान नीचे की ओर ही रखता था, और यदि कभी किसीकी ओर देखता भी तो ऐसी खाली-खाली निगाहों से कि दूसरे को ऐसा प्रतीत होता जैसे उसकी अंगुली को ठंडा पत्थर छू गया हो।

उसका कद और उसका रूप-रंग साधारण मर्दों से सुन्दर ही था, इ लिए हमारे दफ्तर की लड़कियों में प्रायः कुछ न कुछ उसकी बात चल ही पड़ती थी। पर उसकी बात मोम के टुकड़े की तरह होती थी, जो भी शक्ल बनाओ बन जाती थी और जो भी मिटाओ मिट जाती थी।

कभी-कभी वह मेरे हाथ में जो किताब देखता, मुझसे मांग लेता था। परन्तु उसने कभी भी किसी किताब के बारे में अपनी राय देने की ज़रूरत नहीं समझी। जब कभी भी वह मेरे निकट होता तो मुझे यों लगता, जैसे वह अपने हृदय की गहरी नदी पार कर चुका हो। किन मुश्किलों से वह पार आया, मुझे पता नहीं, पर लगता जैसे अभी तक वह किनारे पर खड़ा तन के कपड़े सुखा रहा हो और उसके पास से गुज़रनेवाले को एक ठंडी और भीगी-भीगी गंध-सी आती हो।

हमारी कैन्टीन की मरम्मत शुरू हो गई। पुरानी दीवारों का

चूना उतारकर नीला पलस्तर चढ़ाया जा रहा था। कुर्सी और मेज़ों पर नये रंग की कूची फेरी जा रही थी और भले ही कैन्टीन के नये रूप की कल्पना से पुराने सामान का दिल धड़क रहा था, पर कुछ दिनों से एक ऊधम-सा मचा हुआ था क्योंकि दफ्तर के लोगों को चाय कमरों में मंगाकर पीनी पड़ती थी, जो कमरों में पहुंचते-पहुंचते ठंडी हो जाती थी। जिसे बहुत गर्म प्याले की इच्छा हो, वह कैन्टीन के बाहर एक कोने में खड़ा होकर चाय का प्याला ले सकता था। वहां दो-तीन मेजें परदेसियों की तरह पड़ी थीं और कुरसियां रखने की जगह न थी। वहां एक दिन मेज़ के पास खड़े-खड़े उसने मेरे हाथ से, इलस्ट्रेटेड वीकली ले लिया। वायें हाथ से पृष्ठ उलटते हुए जब उसने वह पृष्ठ देखा जिसमें नवविवाहितों के चित्र होते हैं, तो उसके दायें हाथ में थामे हुए चाय के प्याले तक उसे धक्का-सा लगा। उसने अखबार और प्याले दोनों को छोड़कर मेज़ का सहारा लिया। मैंने बैरे को आवाज़ देकर उसके लिए कुरसी मंगाई।

"आपकी तबियत ठीक नहीं, आप अपने कमरे में चले जाइए।" बड़ी देर के बाद मैंने कहा।

"यह अखबार ले जाऊं?"

"ले जाइए।"

"तस्वीर काट लूं?"

"काट लीजिए, आप अखबार ही रख लें।"—और मैं चली गई।

दूसरे दिन वह दफ्तर नहीं आया, तीसरे दिन भी नहीं आया और फिर उसका इस्तीफा आ गया।

यह घटना बीते एक महीना हो गया है। आज सुबह की डाक से मुझे उसका एक पत्र मिला है। उसने लिखा है :

"आपके हाथ से मैंने जो अखबार लिया था, उसमें मेरे बच्चे की मां का चित्र था। पिछले से पिछले महीने की २२ तारीख को उसका विवाह हुआ है। चित्र में वह बड़ी सुन्दर दीखती है, पर कोई भी चित्र उसके साथ न्याय नहीं कर सकता। वह सुन्दर से सुन्दर स्वप्न की तरह है।

"कभी-कभी मुझे अपना बच्चा दिखाई देता है। मैंने उसे कभी नहीं देखा, पर उसकी रचना अपनी मां पर है, वैसा ही सलोना वैसा ही प्यारा। काली और मोटी-मोटी आंखों से वह मेरी ओर देखता है। उसके लाल होंठों में से 'पा-पा' निकलता है और फिर वह मेरी ओर बांहें फैलाता है। जब मेरी बांहें बच्चे तक पहुंचती हैं, वह रक्त की धार बन जाता है। वह मेरी अंगुलियों में से बह जाता है, मेरे वस्त्र खून से भर जाते हैं, मेरी हथेलियां खून से लथपथ हो जाती हैं।

"मेरे बच्चे की मां मेरे सूने घर का द्वार खटखटाती है। रात का काला अन्धकार उसके पांव को रास्ता दे देता है और वह कांपती-कांपती मेरे कमरे में आ जाती है।

"मुझे अपने स्वप्न और जागरण में कोई अन्तर नहीं मिलता, और वह मेरा हाथ पकड़कर मेरे पांव की ओर झुक जाती है। मैं अपनी दोनों बांहें उसके जिस्म से लपेट देता हूं। एक बिजली-सी मेरी नाड़ियों में लहरा जाती है और मैं कांप-कांप उठता हूं।

"न जाने, जिन्दगी ने क्यों इस तरह का मजाक मेरे साथ किया है, एक बार नहीं, दो बार।

"आज से १५ वर्ष पूर्व मैंने एक बड़ी सुन्दर लड़की से विवाह किया था। उसे चाहनेवाले बहुत-से थे, पर जिस दिन गिरजे में मैंने अपने और उसके सम्बन्ध पर शादी की मुहर लगवा ली थी, मैं समझने लगा था कि मैंने एक दुनिया जीत ली है। कोई तीन महीने बाद मेरी बदली ऐसे स्थान को हो गई, जहां मैं अपनी पत्नी को साथ न ले जा सकता था। मैं हर तीसरे दिन उसे पत्र लिखता था, और मेरे पत्रों में मेरा दिल धड़कता था। मुझे जवाब में पत्र मिलते थे, परन्तु बड़ी प्रतीक्षा के अनन्तर। और जब आठ महीनों के बाद मैं वापस लौटा, तो उस रात मेरी बांहों में लिपटकर सोई हुई मेरी पत्नी के मुंह से किसी और का नाम निकल रहा था। शंकाओं की धूल को अपने वस्त्रों से झाड़कर जैसे-जैसे मैं अलग करता था, वैसे-वैसे ही धूल की एक तह-सी जमती जा रही थी। उसके बाद एक दिन मानो उस

सारी धूल-मिट्टी के सामने आंखें झुकाते हुए मेरी पत्नी ने मुझसे तलाक मांग लिया।

"स्वप्न के उस रेशमी वस्त्र को मैं खींच-खींचकर फाड़ना नहीं चाहता था, जिस वस्त्र की दो किनारियां उसके हाथों में थीं, और दो मेरे हाथों में। मैं इस तलाक से इन्कार कर सकता था, उसे तंग कर सकता था, उन रेशमी तारों को अपनी ओर खींच सकता था क्योंकि मैं पुरुष था, वलवांन था। पर मुझे मालूम था, स्वप्न का यह रेशमी वस्त्र, खींचे जाने पर वस्त्र न रहेगा, वह फट जाएगा, उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाएंगे। मैंने अपने हाथ की दोनों किनारियां छोड़ दीं, उसकी स्वतन्त्रता उसे वापस लौटा दी, और स्वयं स्वप्न के समान शून्य हो गया।

"उसके वाद फिर कभी विवाह करने को मेरा जी न किया। मुझे नौकरी से आठ सौ रुपये महीना मिलते थे, और शराव से मेरी अलमारियां सदा भरी रहती थीं। शराव पीकर मुझे अपनी सुध न रहती थी। शराव पीकर मेरी दोनों आंखें जैसे दो पतली रेखाएं वन जाती थीं, जिसमें से मुझे अच्छी तरह किसीका मुंह तक दिखाई न देता था। मेरे दोस्त मेरा हाथ पकड़कर मुझे कभी किसी होटल में ले जाते थे, कभी सागर के किनारे और कभी शहर से वाहर देहात की किसी सराय में। वे अपने लिए लड़कियां चुन लेते थे और जव मुझे पूछते थे तो मैं आंखों को और भी वन्द करके कहता था, 'कोई ! कोई भी हो। मैं···मैं उसकी शक्ल नहीं देखना चाहता !"

"मुझे याद नहीं, कितनी रातें किन-किन स्थानों पर मैंने व्यतीत की थीं। पर जहां मैं एक वार गया था, दुवारा कभी नहीं गया। मैंने कभी किसी लड़की के मुख की ओर नहीं देखा क्योंकि मैं अपने अन्तर में कोई पहचान नहीं रखना चाहता था।

"कितने ही वर्ष निकल गए। कई दूर शहरों में मेरी वदली हुई और फिर एक लड़ाई में मेरी टांग इस तरह घायल हो गई कि मैं छः महीने अस्पताल में रहा, और मुझे समय से पूर्व ही पेन्शन मिल गई।

"मेरी मां, मेरे वचपन में ही मर गई थी। मेरे वड़े होने पर

पिता का भी देहान्त हो गया था। मेरे भाई अलग-अलग शहरों में अपने कामों पर लगे हुए थे। अब मैं अपने बचपन के नगर में एक मकान किराये पर लेकर रहने लगा। अस्पताल में जब छः महीने रहा तो शराब लगभग छूट गई। बाद में मैंने बिलकुल ही छोड़ दी।

"मेरे मकान के साथ लगता एक बहुत बड़ा बंगला था। एक पुलिस अफसर का बंगला। उसके बाग में हर अच्छे फूल के पौधे थे। ऊंचे-ऊंचे वृक्षों की टहनियों ने बंगले के इर्द-गिर्द हरी दीवार-सी बना दी थी, जिसकी दराज़ों से बगीचे का रूप भी झलकता था और सुगंध भी फैलती थी।

"फिर भाग्य ने मेरे लिए सपनों का रेशमी जाल बुन दिया। दूसरी मंज़िल पर, मेरी खिड़की के ठीक सामने जो खिड़की थी, वह उस घर की परी जैसी लड़की के कमरे की खिड़की थी। उसकी खिड़की के सामने कोई पर्दा न था, केवल फूलों की एक बेल चढ़ी हुई थी, जिसकी पत्तियों में से कमरे की शहज़ादी का रूप छन-छनकर आता था।

"नयनों की चाल को मैंने लाख-लाख बार रोका, पर जाने-अनजाने नयन फूलों की उस बेल को ही खोजते रहते थे। एक दिन में दो बार, तीन बार मेरी आंखों में प्रकाश की एक रेखा-सी खिंच जाती थी। किसी-किसी रात्रि को हवा मेरी तरह बेचैन हो जाती थी, कमरे में बैठी और पढ़ रही शहज़ादी का रूप खिड़की में से और छलक-छलक पड़ता था।

"मैं अपने कमरे की बत्ती बुझा रखता था, जिससे कि मेरी आंखों में जलता हुआ मेरा रहस्य वह पा न सके।

"फिर एक बड़ा बांका और छैला जवान उस घर में आने लगा। उस कमरे में भी, उन फूलों की बेल के पीछे भी। और वह शहज़ादी सरीखी लड़की इस तरह खिल उठी, जैसे पग-पग पर मलिका बनती जा रही हो। वह बांका जवान अब बादशाह प्रतीत होता था, और कई बार उनकी मिली-जुली हंसी की बूंदें मेरे कमरे में भी आ गिरती

थीं। ईर्ष्या की एक भी खरोंच कभी मेरे हृदय पर न पड़ी थी, बल्कि उनकी हंसी की बूंदों से मैं अपने संतप्त घर को शीतल कर लेता था। मैं उनकी हंसी के स्थायित्व की कुशल कामना करता था।

" एक दिन फूलों की बेल की ओट से मैंने अपनी शहज़ादी की आंखें देखीं। जाने कहां का गम उसकी आंखों में आ समाया था और हंसी, पीले पत्तों की तरह उसके होंठों से झड़ चुकी थी। वह अकेली थी और कितने ही दिन उस कमरे में अकेली ही रही। फिर एक दिन एक लेडी डाक्टर आई, एक नर्स आई, और उस रात उस कमरे में से धीरे-धीरे कराहने की आवाज़ आती रही, जैसे कोई हंसी के कोमल प्राणों पर छुरी चला रहा हो।

" कई बार मैं सोचता था, ये मैंने कैसी चिन्ताएं अपने गले मढ़ ली हैं। जब मैं इन सारी व्यर्थ की चिन्ताओं को अपने से खींचकर अलग करने का प्रयत्न करता था तो मेरे गले में एक टीस उठती थी, और मैं उन चिन्ताओं को गले से लगा लेता था। इस तरह मेरे तीन दिन बीत गए। चौथे दिन जब मैंने फूलों की बेल की ओट से शहज़ादी का मुख देखा, तो वह जैसे सूखने के लिए डाले गए सफेद सूखे कपड़े की तरह निचुड़ा हुआ था।

" उससे अगली रात किसीने मेरे घर का द्वार खटखटाया। द्वार खोलकर मैंने देखा, तो मेरी आंखों ने सच मानने से इन्कार कर दिया।

" 'मैं दस मिनट के लिए आपके कमरे में आ जाऊं ?' महीन-सी आवाज़ आई।

" मुझसे कोई उत्तर नहीं दिया गया। पर एक ओर हटकर मैंने रास्ता छोड़ दिया।

" गीले वस्त्र की तरह निचुड़ी हुई शहज़ादी मेरे कमरे में आ गई।

" 'मेरा अधिकार तो नहीं आपसे कुछ कहने का। पर यदि आपने मेरी मदद न की तो मैं आज रात मर जाऊंगी ?'

" अपने-आपसे मैं पूछ रहा था कि क्या यह मेरी सहायता स्वीकार करेगी।···यह मेरी मदद मांग रही है। मुंह से मांग रही है। और मुझे कहने के लिए कुछ भी सूझ न रहा था।

" 'आपका एक शब्द मुझे बचा सकता है।'

" 'मैं···आप जो कहें···।' बस इतना ही कह सका।

" 'यह कोई अच्छी बात नहीं, जो मैं कहने लगी हूं।' और उसने मेरा पांव छू लिया।

"कौन-सा आकाश था, जो मेरे पांव पर झुक रहा था। मैंने चौंककर उसके दोनों हाथ थाम लिए।

" 'मैंने एक गुनाह किया है!···' उसके होंठ कांप रहे थे, '···आप उसे अपने सिर ले लीजिए।'

" पिछले चार दिनों में जो कुछ बीती थी वह मेरे मन में से आर-पार निकल गई। फिर भी कुछ समझ में न आया।

" 'मैं···मैं···किस तरह···?'

" 'मैं कुंआरी लड़की हूं। मैंने नियम भंग किया था। पिताजी अब मुझे अपनी आंखों के सामने नहीं आने देते। मुझसे नाम पूछते हैं, मैं क्या बताऊं?'

" 'यदि वे अपनी पुत्री को क्षमा कर सकते हैं तो पराये पुत्र को भी क्षमा कर देंगे। आप नाम बता दीजिए।'

" 'अपनी पुत्री को वे अपने हाथों से नहीं मार सकते। यह उनकी कमजोरी है। पराये पुत्र के लिए उनके मन में कमजोरी नहीं आ सकती।'

" 'आप क्या चाहती हैं?'

" 'आप अकेले हैं। काम का आपको बंधन नहीं, घर का बंधन नहीं, कोई भी बंधन नहीं। रात-रात में आप यह मकान छोड़कर चले जाइए, किसी और शहर में चले जाइए। कल मैं आपका नाम ले दूंगी।'

"एक रोष-सा मेरे मन में जलने लगा। मुझे यों लगा, आज से

चौदह वर्ष पहले की कहानी जैसे मेरे सामने फिर दुहराई जा रही हो। चौदह वर्ष···चौदह वर्ष पूर्व ऐसी ही एक रात थी, और मेरी पत्नी मेरे पांव पर झुकी हुई थी, वह चाहती थी, वह चाहती थी कि मैं अपने और उसके सम्बन्ध के बन्धन खोल दूं—किसी पराये के लिए। और आज···आज चौदह वर्ष बाद···एक पराई लड़की मेरे पांव पर झुकी हुई है, और चाहती है, मैं अपने और उसके सम्बन्ध के तार जोड़ लूं, झूठ-मूठ जोड़ लूं, किसी पराये को बचाने के लिए जोड़ लूं।

" 'यदि उसे कुछ हो गया तो मैं न जीऊंगी।'

" 'क्या जाने आपके पिताजी उसे क्षमा कर दें ?'

" 'क्षमा कर भी दें, तो उम्र-भर मुंह न लगाएंगे। मैं कभी भी उसका मुख न देख सकूंगी।'

"इस तरह क्या आपका विचार है, वे···'

" 'दो-चार महीनों में जब वह विवाह की बात उठाएगा, पिताजी हां कर देंगे, ज़रूर कर देंगे, मैं जानती हूं।'

"और उसने फिर मेरे पांव छू लिए।

"अब उसके हाथों में से जैसे मुझे एक तपन-सी चढ़ रही थी। उसके बड़े कोमल, कांपते हाथों में से···उसकी शीतलता मुझे तपन-सी दे रही थी। मुझे पता नहीं, कब मेरी बांहें उसके इर्द-गिर्द सिमट गईं।···मैं उसके बच्चे का बाप···यह···यह मेरे बच्चे की मां··· मेरी धमनियों में रक्त उबल रहा था।

" 'मैं आज मर जाऊंगी।' उसकी आवाज़ जैसे टूट रही थी।

" 'मेरी धमनियों में रक्त की एक और उछाल आई। भला कोई अपने बच्चे की मां को मरने देगा···और मैंने उसे सहज ही एक कुर्सी पर बिठा दिया।

" 'एक बात पूछूं ?' मैंने कहा।

" 'क्या ?'

" 'आपको इतनी रात गए मेरे घर आते भय नहीं लगा ?'

" 'दोनों रास्ते निश्चित करके आई हूं, यदि हां कर दें तो वैसे

आपसे कोई खतरा नहीं, घर वापस चली जाऊंगी। यदि न कर दें, तो आज की रात मेरे जीवन की अन्तिम रात है। किसी अनहोनी का मुझे गम नहीं।' अब उसके बोल जैसे अग्नि के ताप से पके हुए थे, उनमें कम्पन न था।

" 'कभी आपने अपनी खिड़की की ओर लगी हुई मेरी आंखों को देखा था ?' न जाने मैं किस तरह यह पूछ बैठा।

" 'हां,...उसी सहारे तो आई हूं।' उसने मुंह नीचा कर लिया।

"एक बार मुझे ऐसा लगा, जैसे उसके होंठ मेरे अन्दर ज़हर घोल रहे हों, और मेरा...मेरा सारा बदन तड़प रहा हो। फिर...फिर मुझे इस तरह लगा जैसे मेरे घावों पर किसीने ठंडी मरहम का लेप कर दिया हो, और मेरा अंग-अंग शीतल हो गया हो।

" 'आप अपने घर जाइए। मैं आज रात यह मकान छोड़ दूंगा।' और मैंने उसका हाथ पकड़कर उसे कुर्सी से उठाया।

"बाहर के द्वार तक उसका हाथ मेरे हाथ में था, मेरे पांवों तले जैसे फूल बिखरे हों।

"द्वार के पास आकर उसने मेरे दोनों हाथ अपने मस्तक पर लगा लिए। एक वलवला मेरे अन्तर से उठा, और मैंने कहा, 'मेरे बच्चे की मां !'

" उसने पहली और आखिरी बार मेरी आंखों में देखा और सिर झुका लिया। अब उसके सफेद वस्त्र की तरह निचुड़े हुए चेहरे ने हलके गुलाबी रंग में जैसे अपने को डुबो लिया था।

" अपना शहर मैंने छोड़ दिया। इधर उत्तर की ओर आ गया। मेरी पेन्शन मेरे लिए बहुत है, पर समय काटने के लिए मैंने यह नौकरी कर ली थी। कुछ दिन नये स्थान पर नई नौकरी के धन्धे में कट गए। फिर मुझे सोते-जागते एक बच्चे का स्वप्न आने लगा, और अब जैसे हर घड़ी मैं यह स्वप्न देखता रहता हूं। मेरे बच्चे की आकृति अपनी मां पर है, वह मोटी-मोटी और काली आंखों से मेरी ओर ताकता रहता है। उसके लाल-लाल अधरों में से 'पा-पा'

निकलता है, और फिर वह मेरी ओर बांहें फैला देता है।

" आपके हाथों से मैंने जो अखबार लिया था, उसमें मेरे बच्चे की मां का चित्र था, पिछले से पिछले महीने की २२ तारीख को उसका विवाह हुआ।

" उस रात मुझे बुखार हो गया था, बड़ा तेज़ बुखार और कई दिन मुझे एक ही स्वप्न आता रहा है कि जब भी मैं अपने बच्चे को अपनी बांहों में लेता हूं, वह रक्त की धार बन जाता है जो मेरी अंगुलियों में से बह जाती है। मेरे वस्त्र खून से भर जाते हैं। मेरी हथेलियां खून से लथपथ हो जाती हैं।......

" उत्तर में भी मेरा दिल नहीं लगा, इसलिए इस्तीफा देकर मैं पूर्व की ओर आ गया हूं। यहां से आसाम के जंगल देखने जाऊंगा।

" अखबार में से चित्र काटकर मैंने अपनी डायरी में लगा लिया है। आखिर वह मेरे बच्चे की मां है। इस चित्र में वह बड़ी खुश दिखाई दे रही है। उसकी खुशी को मैं अपने गम में समोकर जी लूंगा। कम से कम जीने की कोशिश तो करूंगा। "

जीवन का शेष

आज प्रातः चाय का प्याला पीकर मैंने जब अखबार खोला तो पहले पृष्ठ पर मिस्टर फैनर ब्राकवे की तस्वीर थी, जिसने हाउस आफ कामन्स में नसली भेदभाव को मिटाने के लिए एक बिल पेश किया था।

नसली भेदभाव भी एक अद्भुत समस्या है। मानव की खुली आंखों से देखा जाए तो कितना आधारहीन दिखाई देता है, कितना नीरस, परन्तु बन्द आंखों से मानव ने ही इस उलझन में इतनी पक्की गांठें लगा दी हैं कि सदियां गुज़र गई, इसकी कोई गिरह भी खुलने में नहीं आती। इस उलझन को सुलझाते बुद्ध और ईसा के हाथ भी थक गए। 'इक्को नूर' कहते हुए गुरु नानक ने सारी ज़िन्दगी लगा दी, गांधी ने इस उलझन को खोलने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दी, और दुनिया-भर के लेखक अपनी लेखनियों का सारा बल इसीके लिए लगा गए—पर आज भी यह गिरह वैसी ही सख्त है कि किसी एम० पी० को हाउस आफ कामन्स में इसके लिए बिल पेश करना पड़ता है।

फिर मेरा ध्यान अखबार के सामने के पृष्ठ पर जा पड़ा। पृष्ठ के तीसरे कालम में लिखा हुआ था—'श्रीमती चेतनाकुमारी की मौत'। मैं उसे जानती थी इससे मैंने जल्दी-जल्दी वह खबर पढ़ी—

"अहमदाबाद के मशहूर सेठ श्री देवीदत्त की पत्नी श्रीमती चेतनाकुमारी कल रात को दो बजे के लगभग स्वर्ग सिधार गईं। श्रीमती चेतना को देर से रक्तचाप का रोग था। परसों जब उनकी हालत खराब हो गई,

तो उन्होंने अपनी अन्तिम इच्छा यह प्रकट की कि उन्हें बम्बई के सी-ग्रीन होटल में ले जाया जाए, कमरा नं० ९ में। कल सवेरे श्रीमती चेतना को कार में अहमदाबाद से बम्बई लाया गया। हालांकि बम्बई में उनकी अपनी कोठी थी, तो भी उनकी इच्छा के अनुसार उन्हें सी-ग्रीन के कमरा नं० ९ में ठहराया गया। नगर के अच्छे से अच्छे डाक्टर उनकी सेवा में रहे पर रात के दो बजे श्रीमती चेतना का देहावसान हो गया।" इसके आगे अखबारवालों ने लिखा था—"श्रीमती चेतना ने सामाजिक और राजनीतिक कामों में सदा महत्त्व-पूर्ण भाग लिया। कांग्रेस के संग्राम के समय कांग्रेस के बड़े-बड़े नेता उनसे सहायता लिया करते थे। अहमदाबाद में मज़दूरों की जो सबसे बड़ी हड़ताल हुई थी, उस समय महात्मा गांधी ने श्रीमती चेतना की सहायता से मिल-मालिकों से मज़दूरों की शर्तें मनवाई थीं और हड़ताल खुलवा दी थी। गांधीजी के सुझाव और मज़दूरों की खुशी के लिए उस दिन से एक मिल का नाम रखा गया था—'चेतना क्लाथ मिल'। राष्ट्रीय कार्यों के लिए बड़ी-बड़ी रकमें देकर श्रीमती चेतना ने बड़ा नाम कमा लिया था।"

"चेतना तू चली गई!" मेरी आंखें भर आईं, और मन जैसे ज़ोर-ज़ोर से उसके साथ बातें करने लगा, "जाने तूने जिन्दगी में क्या कुछ कमाया और क्या कुछ गंवाया। परन्तु जो कुछ शेष बचा, उसे केवल तू ही जानती थी, और कोई नहीं जानता। ये बेचारे अखबारवाले......"

गत अप्रैल का महीना मेरे सामने आ खड़ा हुआ। मैं बारह दिन की छुट्टी लेकर बम्बई गई थी। कोई काम न था, चाहती थी बारह दिन अपने साथ और सागर के साथ बिता दूं। इसलिए अपने वहां जाने की खबर मैंने किसीको नहीं दी थी। सागर के तट पर सी-ग्रीन में कमरा नं० ९ मैंने लिया था। कमरे के हर कोने में बैठे हुए मुझे सागर दिखाई देता था। मेरे जाने के पांचवें दिन की बात है। एक रात होटल के डाइनिंग रूम में खाना खाने के बाद अपने कमरे में जाने

के लिए जब मैं लिफ्ट के पास आई, होटल के मैनेजर ने आकर मुझे कहा, "बाहर ड्राइंगरूम में एक औरत आपसे मिलना चाहती है।"

मुझे हैरानी थी कि जब मेरे आने की सूचना किसीको न थी, मुझे मिलने कोई किस तरह आ सकता है। पर मैं ड्राइंगरूम की ओर गई। एक अच्छी रूपवती नारी वहां बैठी हुई थी। मुझे लगा जैसे मैंने पहले इसे कहीं नहीं देखा।

"आपका नाम अमृता प्रीतम है?" उसने पूछा।

"जी!"

"एक गहरे स्वार्थ के कारण यहां बैठी मैं आपकी प्रतीक्षा कर रही थी।"

उम्र में वह मुझसे बड़ी थी, उसके चेहरे पर बड़प्पन का कुछ ऐसा प्रभाव था कि उसका आदर करने को हर किसीका जी करता था। मैंने कहा, "आइए, मेरे कमरे में आइए।"

मेरा कमरा दूसरी मंज़िल पर था। जब मैंने उसके लिए कुर्सी आगे सरकाई तो उसने कहा, "है तो यह मेरी खुदगर्ज़ी। आपकी जगह कोई और होता तो मैं कुछ न कहती, चुपचाप वापस लौट जाती। पर अपने स्वार्थ की बात आपसे कहना मुझे कठिन प्रतीत नहीं हुआ।"

"आज्ञा कीजिए।"

"मैं अहमदाबाद रहती हूं। जब सब ओर से मेरा मन उदास हो जाता है, तो मैं दो-एक दिन के लिए यहां आ जाती हूं। यहां बम्बई में मेरी अपनी कोठी है, पर वहां भी मेरा मन नहीं लगता। हर दो-चार महीनों के बाद मैं यहां आ जाती हूं, इसी कमरे में ठहरती हूं—नं० ९ में। तब अपना-आप संभल जाता है। दो दिन रहकर मैं वापस चली जाती हूं। आने से पूर्व होटलवालों को तार द्वारा सूचना भेज देती हूं, वे मेरे लिए यह कमरा खाली रख लेते हैं। इस बार न जाने क्या हुआ, इन्हें मेरा तार नहीं मिला जब मैं यहां पहुंची तो पता लगा कि कमरा खाली नहीं है। बड़ी परेशान थी, होटल के रजिस्टर में आपका नाम पढ़ा तो नाम कुछ

"सारी पढ़ी थी आपने ?"

"हां, और पढ़कर मैं बड़ा रोई थी।

"लोग कहते हैं, अशु जैसे पात्र नारियों में होते ही नहीं—ऐसे दृढ़व्रती और हृदय को इतना अर्पण करनेवाले।"

"बिलकुल गलत है, जिन्होंने कभी किसीको इस तरह हृदय अर्पण न किया हो, उन्हें ऐसे व्यक्ति कहां मिलेंगे, मुझे तो अपने हृदय में ही एक अशु बसी हुई प्रतीत हुई थी।"

"आपके दिल की दौलत भी कम नहीं मालूम पड़ती। मुझे पहली नज़र में ही आपका मुख बड़ा अच्छा लगा था।"

"दृष्टिवाले ही मूल्य को बढ़ा देते हैं। वरना मुंह तो ऐसे कई धूल में मिल जाते हैं।"

"नहीं, आपका मुख ही बड़ा अमीर है। ज़िन्दगी की दौलत से भरपूर।"

ज़िन्दगी की दौलत!—उस नारी के चेहरे पर और चमक आई और वह तनिक रुककर कहने लगी, "ज़िन्दगी में प्राप्त भी बहुत कुछ किया है और खोया भी बहुत कुछ है। पर जो कुछ शेष बचा है, मैंने कभी किसीको इस शेष की बात नहीं बताई। पर आज लगता है कि जैसे यह बात आपको बताए बिना मुझसे रहा न जाएगा।"

"मुझे एक और अशु मिल जाएगी।"

"यह बात किसी अशु लिखनेवाली को ही बताई जा सकती है।"

"आप अपना कमरा ठीक कर लें। मैं भी अपने नये कमरे की देख-भाल कर आऊं।"

"फिर आप मेरे कमरे में आ जाइएगा। मैं ही आ जाती, परन्तु वह बात इसी कमरे में बताने योग्य है।"

और जब मैं कोई आध घण्टे बाद उसके कमरे में आई, तो उसने कमरा ठीक से सजा लिया था। काफी मंगाई गई। कमरा

भीतर से वन्द करके समुद्र तट की ओर वढ़े हुए वरामदे में कुर्सियां विछा ली गईं। गुलाव के फूलों का एक वड़ा सुन्दर गुच्छा मेज़ पर रखा हुआ था।

"मेरा नाम चेतना है।"

"चेतना!"

"कानपुर में पैदा हुई थी और अहमदावाद में व्याही गई। मिलवालों के घर वचपन गुज़ारा था, मिलवालों के घर जवानी गुज़ार दी।

"चांदी की चम्मच लेकर जन्म लेना शायद इसीको कहते हैं।" चेतना हंस दी और कहने लगी, "चम्मच चांदी की हो या सोने की, पर जव तक चम्मच में शहद की वूंद न हो, अन्तर भूखा ही रहेगा। मैं छोटी-सी थी। मिलवाले वाप की कोठी के समीप एक तंग-सा घर था। कांग्रेस के सत्याग्रह के समय उस घर का वाप जेलों में ही रहा और उस घर का वेटा एक साधारण-से स्कूल में पढ़कर साधारण-सी नौकरी करने लगा। युगराज उसका नाम था। मैं जव भी उसे देखती, मेरे अन्दर शहद-सा भर आता था। पर हम मिलवालों के घरों में उन तंग घरवालों का ज़िक्र नहीं हो सकता था। जव मेरी शादी हो गई तो मुझे लगा कि जैसे चांदी की चम्मचें तो वहुत थीं, परन्तु ज़िन्दगी की कटोरी खाली थी। वड़ी अच्छी-अच्छी पुस्तकें मैंने पढ़ीं, वड़े अच्छे व्यक्तियों से मिली, मन की कमी को पूरा करने के लिए जहां तक हो सका, परिस्थितियों की सभी तरह की कमियों को पूरा करती रही।

"एक वार मेरे पति की मिल में मज़दूरों ने हड़ताल कर दी। मैंने अपनी पूरी हमदर्दी मज़दूरों के फटे हुए पल्लू में डाल दी। मेरी हमदर्दी धरती पर विखर जाती, क्योंकि उन गरीबों के पल्लू फटे हुए थे। भूख और वीमारी वढ़ती जा रही थी। उनकी प्रतिज्ञा टूट रही थी। मैंने गांधीजी के वलवान हाथों का सहारा लिया और उन्हें निमन्त्रित किया। कुछ मांगें मनवाई गईं और हड़ताल खुल गई।

इसी प्रकार और भी अवसर आए। जो भी सुख मैं किसीको बांट सकती थी बांटती रही, और उसकी खुशी अपने अन्दर भरती रही। पर पता नहीं कैसा गढ़ा था मेरे मन में, किसी बन से भी कुछ न बनता था।

"कांग्रेस के एक उत्सव में मैंने युगराज को शेर पढ़ते सुना। पता नहीं उसके अस्तित्व में क्या बात थी कि एक सुगन्ध-सी उठकर मेरी ओर आई और मेरे मन के शून्य में भरने लगी। मैंने कुछ मिनट उससे बातें कीं। वह मेरे पास खड़ा था, उसकी सांस मुझसे झेली न गई। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे उसकी सांस की सुगन्ध नदी के प्रवाह-सी वह रही हो, जिसके पानी में मेरे पांव उखड़ रहे हों। मैंने अपने-आपको संभाला और घर आ गई।

"दूसरे दिन मैंने कई बार टेलीफोन का डायल घुमाया और कितनी ही बार अपना हाथ रोक लिया। पर एक बार हाथ न रुका और मैंने कांग्रेस के दफ्तर फोन करके युगराज को बुला लिया। वह जब मेरे फोन के जवाब में बोला..."

चेतना एकाएक चुप हो गई। बड़ी देर तक चुप रही। मैंने केवल उसका हाथ अपने हाथ में पकड़ लिया। पर उसकी खामोशी को न तोड़ा। फिर चेतना ने अपना मौन स्वयं ही भंग किया और कहने लगी, "कितनी अजीब बात है, जब उसकी आवाज़ आई, मुझे प्रतीत हुआ जैसे उसकी सांस मुझे स्पर्श कर रही है। मैं चौंक उठी। भला फोन में से किसीकी सांस कैसे आ सकती है। फोन में सांस की सुगन्ध किस तरह आ सकती है! युगराज ने बताया कि उसे दिल्ली वापस जाना है। सिर्फ सोच रहा है कि एक दिन के लिए बम्बई जाए या न जाए। वहां उसका कुछ काम रुका हुआ था। बम्बई में हमारी कोठी बन रही थी और मैं अगले दिन कोठी की जांच करने के लिए बम्बई आनेवाली थी। मैंने उससे कहा, 'यदि बम्बई में मैं आपका काम करवा सकूं तो मुझे बड़ी खुशी होगी।' अगले दिन वह बम्बई मेरे साथ आया। पहले मैं सदा अपनी एक

सहेली के घर ठहरती थी। पर उस दिन मुझसे उसके घर न जाया गया। मैं यहीं ठहरी। इसी कमरे में।

चेतना ने कहानी की गांठ खोल दी थी, अब उसने सुर्खरू होकर एक लम्बी सांस ली और कहा, "यही कमरा था। खाना खाने के बाद मैंने उससे कहा, 'यदि आपको नींद न आई हो तो आप कुछ देर मेरे कमरे में ठहरकर मुझे शेर सुनाएं।' इसी तरह, इसी बरामदे में उसने कुर्सियां बिछाईं। रात के दो बजे तक वह मेरे पास बैठा रहा। मेज पर इसी तरह गुलाब के फूल रखे हुए थे। शेर सुनाता हुआ वह पहली खत्म हो रही सिगरेट के साथ दूसरी सिगरेट सुलगा लेता था।···

"अमृता !"

"हां, चेतना !"

"कोई आपत्ति न हो तो···"

"क्या ?"

"मैं भी एक सिगरेट सुलगा लूं।"

"सिगरेट ?"

"मैं सिगरेट नहीं पीती पर जब कभी इस कमरे में ठहरती हूं, मुझे सदा जलती सिगरेट हाथ में रखना अच्छा प्रतीत होता है। उसी तरह वे गुलाब के फूल मिल सकें तो फूल जोड़ लेती हूं। उसी तरह जलती सिगरेट हाथ में पकड़ लेती हूं। फिर मुझे उसका अस्तित्व और भी अधिक भासता है।"

"भला मुझे क्या आपत्ति हो सकती है।"

चेतना ने एक सिगरेट सुलगाई पर फिर मुख से नहीं लगाई। अपनी अंगुलियों में जलती सिगरेट थाम वह कहने लगी, "उसकी सांसों में से एक सुगन्ध उठती रही, और मुझे यह प्रतीत होता रहा कि अपने मन के शून्य को भरने के लिए जो कुछ पाना था, मैंने पा लिया है। जिन्दगी के सवाल को सभी हल करते हैं, मैंने भी हल किया है। इस सवाल में बहुत कुछ जमा होता रहा, बहुत कुछ घटता रहा, पर

आज जब उस घटना को बीते बीस वर्ष हो गए हैं और मैं अपनी ज़िन्दगी पर निगाह डालने बैठती हूं, तो लगता है, जो कुछ इस प्रश्न का शेष है, वह मात्र उसकी सांसों की सुगन्ध है।"

"चेतना !" मेरे मन में चेतना के लिए बहुत कुछ उछला, पर मैं एक बार उसका नाम लेने के सिवा कुछ न कह सकी। नहीं कह सकती मेरा मन उस एक शब्द में कितना भर गया था। चेतना ने हाथ में सुलग रही सिगरेट की तरह सुलगकर कहा, "कुछ महीनों के अन्तर के बाद मैं इसी कमरे में आ जाती हूं। न उम्र ने अन्तर डाला, न किसी और वस्तु ने। इस कमरे में मुझे सारी रात उसकी सांसों की सुगन्ध आती रहती है।"

फिर जैसे चेतना को मेरे अस्तित्व की भी सुध न रही। गुलाब के फूलों की सुगन्ध भी शायद दूर हट गई, चेतना के हाथ में सुलग रहे सिगरेट का धुंआं भी शायद दूर हट गया। चेतना की झूमती आंखों में जो सरूर भर गया था, वह उसकी कल्पना की लपेट में से उठती सुगन्ध का जादू था, जिसे मैंने अपनी आंखों से देखा।

मैं कुर्सी पर से उठ खड़ी हुई और एक बार धीरे से पुकारा, "चेतना !" चेतना ने मेरी ओर देखा, पर उसकी आंखों में मेरे लिए पहचान न थी। उसके होंठों के अन्दाज़ से मुझे लगा जैसे वह कह रही थी, "युगराज !"

मैंने धीरे से कमरे का द्वार खोला, और बाहर आ गई।

यह अप्रैल की बात है। आज मई की २२ तारीख है। मैंने अखबार देखा है। उसमें लिखा है—"श्रीमती चेतना की अन्तिम इच्छा—सी-ग्रीन होटल, कमरा नं० ६…रात, दो बजे…"

चेतना की आवाज़ मेरे कानों में गूंजने लगी, "ज़िन्दगी का सवाल सभी हल करते हैं, मैंने भी हल किया है, इस सवाल में बहुत कुछ जमा होता रहा, बहुत कुछ घटता रहा, पर आज जब बीस वर्ष बीत गए हैं और मैं ज़िन्दगी का सवाल हल करने बैठी हूं, तो लगता है

इस प्रश्न का जो कुछ शेष है, वह मात्र उसकी सांसों की सुगन्ध है।"

अब हवा का एक झोंका आया है और उसने अखबार का पहला पृष्ठ फिर ऊपर ला फेंका है। सामने मिस्टर फैनर ब्राकवे का चित्र है जिसने हाउस आफ कामन्स में नसली भेदभाव को मिटाने के लिए बिल पेश किया है और चेतना की मृत्यु की खबर से मेरी आंखों में भरे हुए अश्रु कह रहे हैं :

'वर्ग-भेदभाव!···हृदयों के कौन-से हाउस में कौन बिल पेश करेगा? एक चेतना नहीं, हज़ारों चेतनाएं ज़िन्दगी के प्रश्न हल कर रही हैं। कुछ जमा होता है, कुछ बाकी होता है, और जब सारी आयु लगाकर वे इस प्रश्न का शेष निकालती हैं, तो एक आग उनकी सांसों में सुलगती बाकी रह जाती है।'

गोजर की परियां

तब मैं कांगड़ा वैली के एक गांव में ठहरी थी। एक दिन गांव के एक बुजुर्ग आदमी से पूछा, "और कोई नज़दीक में कहीं कुछ देखने लायक हो तो बताएं। ऐसा कोई गांव ही हो जिसके बारे में कोई पुरानी कहानी मशहूर है।"

"पुरानी कहानी ?—यहां पास ही में गोजर मौजूद है, वहां और तो देखने लायक कुछ नहीं सिर्फ कुछ कच्चे घर हैं, और एक बावली है जहां लोग जाकर मुरादें मांगते हैं।"

"गोजर ?—यह नाम कैसे पड़ा ?"

"असल में इसका नाम था—'अगोचर'।

"अगोचर ?—कितना अर्थपूर्ण नाम है !"

"हां जी ! यह गांव सघन जंगल से घिरा है। इसके दोनों ओर ऊंची चढ़ाई है। कहते हैं, मुसलमानों के हमलों के वक्त यहां कुछ राजे-महाराजे आ बसे थे या कहिए आ-छिपे थे। बूढ़े लोग कहते हैं कि यहां पांचों पाण्डव भी रहे थे।"

"घने जंगल की वजह से छिपना आसान होगा।"

"हां जी। कहते हैं असल में यह इन्द्र देवता का स्थान था। यहां आधी रात को इन्द्र की परियां नाचा करती थीं, और इसी बावली से पानी पीती थीं।"

"पहाड़ी स्थानों पर पानी की बहुत कद्र होती है। न मिले तो मीलों तक पानी नहीं मिलता। जहां कहीं अच्छा पानी मिल जाए, वह बड़ा कीमती स्थान बन जाता है।"

"यही बात है जी। यहां छिपनेवालों को अच्छा पानी मिला। ठौर बहुत था। वर्षों वे लोग रहे पर शत्रुओं को उनका सुराग न मिला। इसीलिए वे इसे 'अगोचर' कहते थे। अब बिगड़कर 'गोजर' बन गया। अब हर रोज़ तो नहीं, पर पूनम की रात में इन्द्र की परियां अब भी इस बावली से पानी पीने आती हैं, और फिर साथवाले जंगल में नृत्य भी करती हैं।"

"इन्द्र की परियां तो शायद ही दिखाई दें, पर बावली तो ज़रूर दिखाई देगी। आज ही मैं गोजर गांव जाऊंगी।"

उस बुज़ुर्ग से रास्ता पूछकर मैं उसी दिन गोजर जा पहुंची। बांस के सघन वृक्षों को चीरती एक पगडण्डी थी। सचमुच रास्ता बड़ा प्यारा था। बाहर से पगडण्डी या गोजर का कोई निशान नहीं मिलता था।

बावली भी मिल गई। उसकी ओट में मकई के खेत थे। रास्ता बहुत ही ऊंचा-नीचा था। थोड़े-से घर थे, जिनके इर्द-गिर्द गाय-भैंसें बंधी थीं, पगडण्डी साफ सुथरी नहीं थी।

बावली की ओट में खड़े होकर मैंने देखा कि लोगों ने उसकी पत्थर की दीवार पर कई जगह सिन्दूर लगा रखा था। बावली में पानी बहुत थोड़ा और गन्दा था। मैं देखती रही, पर पानी को हाथ न लगा पाई। पानी में छोटे-छोटे मेंढक भी खेल रहे थे।

तभी वहां पर एक औरत आई। साथ में तीन छोटे-छोटे बच्चे थे। एक गोदी में, एक अंगुली पकड़े, और एक लड़की पीछे-पीछे। औरत की उम्र तीस बरस की होगी, और बड़ी लड़की छः बरस की। दूसरे बच्चे छोटे थे ही। सबके सफेद रंगों पर मैल की तहें जमी थीं, और इतनी दूर से भी उनके कपड़ों की बदबू आ रही थी। उसकी अपनी कमर, और उसकी लड़की की कमर पर एक-एक मोटी-सी रस्सी बंधी थी, जिन्हें खोले हुए जाने कितने दिन बीत गए थे, और जिनके नीचे पहनी हुई चोलियां शायद महीनों से नहीं धुली थीं। रस्सियां जैसे ही रूखे-सूखे बाल उनके मुंह पर लटके थे। औरत ने पहले अपनी

गोजर की परियां

तब मैं कांगड़ा वैली के एक गांव में ठहरी थी। एक दिन गांव के एक बुज़ुर्ग आदमी से पूछा, "और कोई नज़दीक में कहीं कुछ देखने लायक हो तो बताएं। ऐसा कोई गांव ही हो जिसके बारे में कोई पुरानी कहानी मशहूर है।"

"पुरानी कहानी?—यहां पास ही में गोजर मौजूद है, वहां और तो देखने लायक कुछ नहीं सिर्फ कुछ कच्चे घर हैं, और एक बावली है जहां लोग जाकर मुरादें मांगते हैं।"

"गोजर?—यह नाम कैसे पड़ा?"

"असल में इसका नाम था—'अगोचर'।

"अगोचर?—कितना अर्थपूर्ण नाम है!"

"हां जी! यह गांव सघन जंगल से घिरा है। इसके दोनों ओर ऊंची चढ़ाई है। कहते हैं, मुसलमानों के हमलों के वक्त यहां कुछ राजे-महाराज़े आ बसे थे या कहिए आ-छिपे थे। बूढ़े लोग कहते हैं कि यहां पांचों पाण्डव भी रहे थे।"

"घने जंगल की वजह से छिपना आसान होगा।"

"हां जी। कहते हैं असल में यह इन्द्र देवता का स्थान था। यहां आधी रात को इन्द्र की परियां नाचा करती थीं, और इसी बावली से पानी पीती थीं।"

"पहाड़ी स्थानों पर पानी की बहुत कद्र होती है। न मिले तो मीलों तक पानी नहीं मिलता। जहां कहीं अच्छा पानी मिल जाए, वह बड़ा कीमती स्थान बन जाता है।"

"यही बात है जी। यहां छिपनेवालों को अच्छा पानी मिला। ठौर बहुत था। वर्षों वे लोग रहे पर शत्रुओं को उनका सुराग न मिला। इसीलिए वे इसे 'अगोचर' कहते थे। अब बिगड़कर 'गोजर' बन गया। अब हर रोज़ तो नहीं, पर पूनम की रात में इन्द्र की परियां अब भी इस बावली से पानी पीने आती हैं, और फिर साथवाले जंगल में नृत्य भी करती हैं।"

"इन्द्र की परियां तो शायद ही दिखाई दें, पर बावली तो ज़रूर दिखाई देगी। आज ही मैं गोजर गांव जाऊंगी।"

उस बुज़ुर्ग से रास्ता पूछकर मैं उसी दिन गोजर जा पहुंची। बांस के सघन वृक्षों को चीरती एक पगडण्डी थी। सचमुच रास्ता बड़ा प्यारा था। बाहर से पगडण्डी या गोजर का कोई निशान नहीं मिलता था।

बावली भी मिल गई। उसकी ओट में मकई के खेत थे। रास्ता बहुत ही ऊंचा-नीचा था। थोड़े-से घर थे, जिनके इर्द-गिर्द गाय-भैंसें बंधी थीं, पगडण्डी साफ सुथरी नहीं थी।

बावली की ओट में खड़े होकर मैंने देखा कि लोगों ने उसकी पत्थर की दीवार पर कई जगह सिन्दूर लगा रखा था। बावली में पानी बहुत थोड़ा और गन्दा था। मैं देखती रही, पर पानी को हाथ न लगा पाई। पानी में छोटे-छोटे मेंढक भी खेल रहे थे।

तभी वहां पर एक औरत आई। साथ में तीन छोटे-छोटे बच्चे थे। एक गोदी में, एक अंगुली पकड़े, और एक लड़की पीछे-पीछे। औरत की उम्र तीस बरस की होगी, और बड़ी लड़की छः बरस की। दूसरे बच्चे छोटे थे ही। सबके सफेद रंगों पर मैल की तहें जमी थीं, और इतनी दूर से भी उनके कपड़ों की बदबू आ रही थी। उसकी अपनी कमर, और उसकी लड़की की कमर पर एक-एक मोटी-सी रस्सी बंधी थी, जिन्हें खोले हुए जाने कितने दिन बीत गए थे, और जिनके नीचे पहनी हुई चोलियां शायद महीनों से नहीं धुली थीं। रस्सियों जैसे ही रूखे-सूखे बाल उनके मुंह पर लटके थे। औरत ने पहले अपनी

बच्ची के, और फिर अपने कपड़े उतारने शुरू कर दिए और बावली के मैले पानी में बच्चों को नहलाकर वह स्वयं भी नहाने लगी। साथवाले कच्चे घरों से दो औरतें अपने मटके ले आईं, और उसी पानी में से मटके और कसोरे भर ले गईं। फिर एक पहाड़ी अपनी गायें ले आया, और उसी बावली में उन्हें पानी पिलाने लगा। बावली का पानी छूने के लिए मेरा जो थोड़ा-सा मन हुआ था अब वह भी न रहा।

'यह पानी इन्द्र की परियों को ही मुबारक हो, पीना तो दूर रहा, मुझसे तो यह हाथों से छुआ भी नहीं जाएगा।' मैं लौटनेवाली थी कि एक सुन्दर जोड़ा दिखाई पड़ा। मैं खड़ी रही। आनेवालों में एक तो बहुत ही सुन्दर और बड़ी-बड़ी काली आंखोंवाला नौजवान था, और दूसरी हंसमुख प्यारी-सी लड़की थी। दोनों शहरी थे। नौजवान क्रीम रंग का गर्म सूट पहने था, गले में उसीके साथ मेल खाती सुनहली धारी की नेकटाई थी। लड़की के शरीर पर लाल सिल्क की साड़ी थी और उसपर काला गर्म कोट। ऊंची-नीची पगडण्डी उतरते हुए दोनों एक-दूसरे के हाथ का सहारा लिए हंसते-खेलते बावली के पास आ खड़े हुए। युवती ने बावली के मटमैले पानी में से अंजली भरी, पानी पहले तो अपनी दोनों आंखों से लगाया और फिर अपनी अंगुलियों से वही पानी नौजवान की आंखों से छुआ दिया।

मैं हैरान-सी खड़ी देख रही थी। युवती ने दो-तीन बार पीछे की ओर मेरी तरफ देखा, फिर नौजवान के कान में कुछ कहा और मेरे पास आ खड़ी हुई।

"आपका नाम अमृता प्रीतम है न ?"

"हां !" मुझे कौतूहल हुआ।

"मैंने आपकी कहानियां पढ़ी हैं और अखबारों में छपे आपके चित्र से आपको देखते ही पहचान लिया।"

"अच्छा ! मेहरबानी।"

"मेरा बड़ा मन था आपसे मिलने का।"

वैसे तो उस लड़की से कुछ पूछना मुझे आसान नहीं लगा, पर

अब मैं उससे अपने सवाल पूछने के लिए तैयार हो गई।

"बावली का पानी इतना मैला है, मैं इसे हाथ नहीं लगा सकी, पर आप लोगों ने जिस श्रद्धा से इसका पानी आंखों को लगाया है—मैं समझ नहीं पाई।"

"आपको मालूम होगा, लोग कहते हैं कि इस बावली से जो मुराद मांगो वही मिलती है।"

"क्या यह सच हो सकता है ?"

"हां, दीदी, मैंने भी पिछले बरस इस बावली से मुराद मांगी थी, और मुझे मेरी मुराद मिल गई। यह पानी मैला हो या साफ, मुझे नहीं दीखता। मेरी कहानी आपकी अशू जैसी है। मैंने भी अपने राजन को पा लिया है।"

"मैं बहुत खुश हूं, तुम्हारी मुराद तुम्हें मिली है। मुझसे तुमने अशू की कहानी सुनी थी—आज तुम मुझे उसके बदले अपनी कहानी सुनाओ।"

उस युवती के मुंह पर झिझक-भरी लाली आई, और वह कहने लगी, "आओ, उन वृक्षों के नीचे जा बैठें।" और वह कहने लगी, "मेरा नाम दिलजीत है और इनका नाम सुखलाल है। ये मुझे 'जीती' नाम से पुकारते हैं और मैं इन्हें 'पाली' कहती हूं।"

"जीती और पाली।" मैंने मुस्कराकर उनके दोनों छोटे नाम दुहरा दिए।

"जब मैं छोटी-सी थी, तभी मेरी मां ने अपनी सहेली के बेटे के साथ मेरी सगाई तय कर दी थी। चौदह बरस तक मेरी सगाई रुकी रही। मैंने जब से होश संभाला, मुझे बताया गया कि मैं और कुछ बरस बाद उस लड़के की ब्याहता होनेवाली हूं। मैं अपने-आपको उसीकी समझने लगी।

"कई बरस पहले की बात है, पाली हमारे घर में आकर रहने लगे। ये दूर के रिश्ते में मेरी बुआ के बेटे हैं। इनका मैंने नाम तो सुना था, पर देखा कभी नहीं।"

"मैं तो जब छोटा-सा था एक बार इसके घर आया था, पर यह मुझे मिली नहीं थी।" पास बैठे पाली ने कहा।

"तब मैं ननिहाल गई हुई थी। ये भी मौका देखकर ही आए थे, जबकि मैं घर पर न होऊं।" जीती ने चुटकी ली।

"अगर तू मुझे तब मिल जाती…?" पाली शायद और कुछ भी कहनेवाला था किन्तु मेरी ओर देखकर चुप रह गया।

"फिर मैं इतना पंथ कैसे काटती ? फिर जाने तुम मेरी कद्र करते या नहीं। मैं भी शायद तुम्हारा मूल्य न आंक सकती।" जीती हंस दी, और फिर मेरी ओर देखकर अपनी रामकहानी सुनाने लगी :

"पिछले बरस इनकी बदली हमारे शहर हो गई। रहाइश के लिए कोई घर नहीं मिला। पिताजी इन्हें अपने घर ले आए और ऊपर का कमरा इन्हें दे दिया।…जाने क्यों, ये मुझे पहले दिन से ही बड़े अच्छे लगे। मैं सवेरे की चाय समय पर तैयार करती, ताकि इन्हें दफ्तर जाने में देर न हो जाए। दुपहर का खाना इनके चपरासी के हाथ भेजती और फिर शाम की चाय के लिए मैं घड़ियां गिनती रहती। एक बरस बीतने पर आ गया, पर हमारे होंठों पर किसी तरह का कोई शब्द न आया।"

"कितना प्यारा संयम है।" मैंने कहा।

"पर दीदी, भीतर मेरे दिल में जो कुछ जाग रहा था, उसकी तपिश मैं ही जानती हूं।" जीती ने सांस भरकर कहा।

"तभी इसने मेरे हाथ अपने मंगेतर को पत्र भेजा और साथ ही एक किताब भी।" पाली ने एक सिगरेट सुलगाया और हंस दिया। उसके माथे पर बालों की एक अलक गिर गई, जिससे वह और भी बांका हो उठा। सचमुच, पाली खूबसूरत लगता था।

"मैं सोचती थी, जल्दी से मेरे विवाह का जो कुछ होना है, हो जाए और मेरे भीतर जो कुछ जाग रहा था, वह सो जाए।"

"मेरे मंगेतर के स्वभाव में एक अजीब तरह की लापरवाही थी। यदि कभी वह मुझ से मिलता तो बड़े प्यार से, लेकिन अगर मैं उसे

पत्र लिखती थी तो कभी जवाब देता था, कभी नहीं। फिर भी उस दिन मैंने उसे एक पत्र लिखा और एक किताब भेजी।" जीती ने कहा।

"और तुमने वह पत्र और किताब उसे पहुंचा दिए?" मैंने पाली से पूछा।

"हां, वे जिसकी अमानत थे, मैंने उसे सुबह होते ही पहुंचा दिए, पर उस रात जैसे मैं पागल-सा हो उठा। पत्र बंद था, मैंने पढ़ा नहीं। किताब खुली थी, उसपर इसने अपने हाथों से उसका नाम लिख रखा था। वह मैंने पढ़ा और न जाने क्यों और किस तरह मेरे मन में आया, 'अगर उसके स्थान पर मेरा नाम होता!' रात कैसे बीती मुझे मालूम नहीं। मुझे कभी उस लड़के का मुंह दिखाई देता और फिर देखते-देखते वह मेरा मुंह बन जाता—मेरा अपना मुंह! मैं घबराकर जाग पड़ता। सिरहाने के लैम्प को जलाता, और किताब को खोलता तो उसीका नाम पढ़ता। पर मेरे मन में आता कि किताब पर भी उसका नाम बन गया है। मैं उससे मिला। पर न कुछ कह सका और न पूछ सका। जल्दी से दोनों चीज़ें उसके सपुर्द कीं और लौट आया।"

"फिर क्या हुआ?" मैंने पूछा।

"वह किताब 'शेली की कविताएं' थी, जो जीती ने उसे भेजी थी। मैंने अगले दिन जीती से पूछा कि तुझे शेली की कौन-सी कविता सबसे ज़्यादा पसन्द है? जीती ने कहा, 'शाम को बताऊंगी।' और शाम को इसने कागज़ पर एक कविता लिखकर मेरी मेज़ पर रख दी।"

"कौन-सी कविता थी?" मैंने फिर पूछा।

"वही, जिसमें शेली कहता है, 'पूर्णता प्राप्त नहीं की जा सकती, इसलिए कोई उससे अधूरी चीज़ ही बयान कर लेनी चाहिए।"

"मैंने यह कविता कई बार पढ़ी थी। इसलिए फिर जीती से पूछा, 'तुझे यही कविता क्यों पसन्द है?' जीती ने और कुछ कहा और सिर्फ इतना ही कहा, 'मुझे आजकल इसी कविता सहारा है। अभी तक मैंने ज़िन्दगी इसी कविता के सहारे पर

है।' " पाली चुप हो गया और आकाश की ओर ताकने लगा। मैंने 'फिर' कहना इस वक्त उचित न समझा।

लेकिन जीती ने कहानी को आगे बढ़ाया।

"खामोशी हमारे होंठों पर जमी रही। अगले महीने इन्हें अपने दफ्तर से बदली का आर्डर मिल गया। हम दोनों चाय पी रहे थे, जबकि कोट की जेब से निकालकर मुझे दफ्तर की चिट्ठी दिखाई गई। मुझे न जाने क्या हुआ कि चाय का प्याला हाथ से छूट गया। मेज़ पर पड़ा अखबार मैंने आंखों के आगे रख लिया, पर मेरी आंखों में आंसुओं की बाढ़ आ गई थी। मुझे ऐसा लगा कि मुझसे मेरा सब कुछ छीना जा रहा था। बहुत चाहा कि मेरे आंसुओं का इन्हें पता न चले पर ये अखबार मेरे मुंह से हटाने लगे। मैंने दोनों हथेलियों से अपना मुंह ढांक लिया। मुझे लगता था कि मैं इनके मुंह की ओर देख नहीं सकती।"

"फिर भी पाली ने कुछ नहीं कहा ?"

"कुछ नहीं। बिलकुल खामोश रहे। वैसे ये कहते रहे कि रोना ठीक नहीं।

"दूसरे दिन सुबह ये दफ्तर गए। मैंने इनकी मेज़ पर एक छोटा-सा कागज़ रख दिया, और ऊपर लिख दिया :

"तुम्हें बंगलौर शहर 'शुभ आगमन' कहता है।

"इनकी बदली बंगलौर होनी थी। शाम को जब ये दफ्तर से आए, हम सबने मिलकर चाय पी और जब ये अपने कमरे में गए, मेरे हाथ का लिखा हुआ कागज़ पढ़कर मुझे आवाज़ दी। मैं इनके कमरे में गई, और मेरे हाथ में अपना पैन देकर कहने लगे, 'इस कागज़ पर से 'बंगलौर' काटकर 'दिल्ली' लिख दो—इसी अपने शहर का नाम !' मैंने बहुत पूछा कि आखिर क्यों ? पर ये यही कहते गए। मैंने बंगलौर काटकर दिल्ली लिख दिया। फिर पूछा तो यह जवाब मिला :

" 'मैं बंगलौर नहीं जा रहा। सुबह इस्तीफा लिखकर साथ ले

गया था और अपने अफसर की मेज पर रखकर कहा कि या तो मेरी बदली न करो और या यह इस्तीफा मंजूर कर लो। उसने मेरा इस्तीफा मंजूर नहीं किया, और मेरी बदली का आर्डर वापस ले लिया।' "

"पाली ने बड़ी दिलेरी दिखाई, पर किस आशा से ?" मैंने पूछा।

"यही तो मैं भी सोचती थी, दीदी, मेरे अपने सामने ही आशा का कूल-किनारा न था, मैं इन्हें क्या तसल्ली दे सकती थी। पर उस वक्त मुझे यही लगा कि मेरा जो खोने लगा था, वह बच गया है। उसी सप्ताह मेरे पिताजी ने सभी बच्चों को कांगड़ा ले चलने की इच्छा ज़ाहिर की। मां भी साथ थीं। हम जब यहां कांगड़ा आए, इस बावली पर भी आए। मैंने इस बावली की कहानी सुन रखी थी। न जाने क्यों एकाएक मुझे यकीन हो उठा और इसका पानी आंखों को लगाकर मुराद मांगी कि बस मुझे पाली मिल जाए। रास्ता कोई नहीं था। मेरी मां अपने वादे पर अटल थीं। मैं तन-मन से डोल गई थी। तब इस बावली ने ही शरण दी।

"जब हम कांगड़ा से लौटकर दिल्ली आए तो मां ने मेरी रस्में पूर्ण करने के लिए चीज़ें मंगाना शुरू कर दिया। घर में ग़री, बदाम और छुहारों का ढेर लग गया। मां उन्हें टोकरों में सजा रही थीं। तब मुझे लगा कि बावली ने मुझे वरदान की जगह शाप दे दिया है, मैं भी कैसी बावली हूं जो इस दन्तकथा पर विश्वास कर बैठी।"

"फिर ?" मैंने बड़े उतावलेपन से पूछा।

"एक दिन क्या देखती हूं कि जिस छोटे कमरे में सूखे फलों की टोकरियां पड़ीं थीं, पाली उसी कमरे में हैं। मैं भी चुपचाप पहुंचकर पीछे खड़ी हो गई। पाली ने सब टोकरियां देखी-भालीं और फिर एक छुहारा लेकर खाने लगे। मुझे इनकी इस बात का काफी पहले पता था कि ये और सब सूखे फल खा लेते हैं, पर छुआरा कभी मुंह से नहीं लगाते। जब पूछा जाता तो कहते थे, 'छुहारा ज़िन्दगी में पहली बार तब खाया जाता है, जब किसीके साथ अपनी ज़िन्दगी की बदली करनी हो—अपनी सगाई के समय। उतनी देर आदमी को मुंह सच्चा रखना

चाहिए।' मैं हक्की-बक्की रह गई और इनका हाथ पकड़ लिया। ये भी मुझे देखकर हैरान हो गए।

"मैंने इनसे पूछा, 'तुमने यह क्या किया? छुहारा क्यों खा लिया है।' उस मौके पर पहली बार इन्होंने मुझे अपने मन की बात बताई।

"कहने लगे, 'मैं जिन्दगी में और कोई छुहारा नहीं खा सकता था। इसलिए जो छुहारा मैंने खाना था, वही खा लिया है।'

"'क्या मतलब ?' मैंने पूछा। ये बोले, 'मेरे पैर जिस राह से भटकते थे—मुझे वह राह दिखाई देने लगी है और जिसने यह छुहारा खाना था, उसने खा लिया है। अब ये छुहारे और किसीको नहीं भेजे जाएंगे।' इसपर मैं भी इनके हाथ से इनका जूठा छुहारा लेकर खा गई।"

"और जूठे छुहारे से तुमने अपनी सुच्ची सगाई कर ली।" मैंने पूछा। लेकिन जीती ने सीधे जवाब देने की बजाय अपनी कहानी ही आगे बढ़ाई।

"उसी दुपहर को ये मुझे बाज़ार ले गए। हमने दो अंगूठियां खरीदीं। एक अंगूठी मैंने इनकी अंगुली में डाल दी और दूसरी अंगूठी इन्होंने मेरी अंगुली में। हमारी सब रस्में पूरी हो गईं।

"अगले दिन मेरी मां को सूचना मिली कि रस्में अभी नहीं होंगी। लड़का विलायत जा रहा है, जब लौटकर आएगा, तभी सब एकसाथ हो जाएंगी। मां ने जवाब भेजा कि पक्की सगाई की रस्म तो हो जाए, शादी लड़के के विलायत से लौटने पर चार बरस बाद ही हो जाएगी।

"कहा गया कि ऐसी जल्दी क्या है, शादी और सगाई एकसा हो जाएंगी।

"मैं पहले ही सोचा करती थी कि वह लड़का एक अजीब तर से लापरवाह क्यों है। आज उसका लापरवाह होना ही मेरे अनुकू बैठा। रात के समय जब घर में सब जने सो रहे थे, मेरी मां की आं

लग गई थीं, मैं अपनी मां की गोदी में गिर पड़ी। मैंने अपना दुःख उसके आगे रख दिया। मां के दिल ने बेटी के दुःखी दिल को पहचाना। मेरी मां ने मेरी मुराद मुझे दे दी और अगले दिन रिश्तेदारों को बुलाकर इनके मुंह से छुहारा लगा दिया।"

"यह तुम्हारे सिदक की कहानी है। तुम्हारे सब्र की कहानी।" मैंने जीती को बड़े प्यार से अपनी बांह में ले लिया।

"दीदी, चौदह बरस वनवास के पश्चात् मैंने अपने राम को पाया है। इस बावली का पानी पीने के लिए आती गोजर की परियों ने मेरी मुराद तो पूरी कर दी।"

"गोजर की परियों ने मुराद पूरी की या विश्वास की परियों ने —मैं कुछ नहीं कह सकती। पर तुम्हारी मुराद तुम्हें मुबारक हो।"

मैंने जंगली सफेद फूलों के गुच्छे उतारे और दोनों की झोली में डाल दिए।

तिजारत का सवाल

मां जब बड़े प्यार में आती तो बिन्दू को बिन्दी कहकर पुकारा करती थी। बिन्दू के कटे हुए बाल उसके माथे पर एक झालर बांध देते थे, उसकी मोटी-मोटी आंखों पर लम्बी-लम्बी पलकें भी एक झालर बन जाती थीं, और इन काली झालरों में उसका गोरा मुंह और गोरा हो जाता था, और उसके लाल होंठ और लाल हो जाते थे।

बिन्दू की जमात की लड़कियां जब जमा-मनफी के सवाल सीखती थीं, बिन्दू गुणा के सवाल करने लग गई थी, और आगे की जमात में जब दूसरी लड़कियां गुणा के सवाल सीखने लगीं, बिन्दू भाग के सवाल भी करने लग गई। और अगली जमात में लड़कियों ने भाग के सवाल सीखे, तो बिन्दू बटों के सवालों को हाथ लगाने लग गई—और इस तरह वह अपनी हरएक जमात की अध्यापिका का प्यार लेते हुए स्कूल में भी बिन्दू से बिन्दी बन गई। उसकी अध्यापिकाएं उसे प्यार के साथ बिन्दी कहकर पुकारने लग गईं।

सुरेन्द्र बिन्दू के सामनेवाले घर में रहता था। बिन्दू से कोई तीन बरस बड़ा होगा। दोनों घरों में काफी आना-जाना नहीं था, सिर्फ मामूली-सा मुंह-मुलाहजा था। एक दिन सुरेन्द्र की मां बिन्दू की मां से बातें कर रही थी, और उसने बिन्दू से प्यार के साथ कहा था, "तू हमारे घर क्यों नहीं आती? कभी कोई सवाल समझना हो तो चली आया कर। हमारा सिन्दी बड़ा चतुर है सवालों में"—और सिन्दी की मां की बात बिन्दू ने जैसे पल्ले बांध ली थी।

सुरेन्द्र जब अपने कमरे की बिजली जलाकर रात के समय पढ़ने

लगता, विन्दू अपने कमरे की खिड़की में से उसे देखती, और अपनी कापी पर वटों के सवाल करती विन्दू का दिल करता कि उसे वटों का सवाल भूल जाए और फिर वह कापी लेकर सुरेन्द्र से सवाल निकालने को कहे। विन्दू खोई-सी गुणा करती, वेपरवाह-सी भाग करती, पर जव अपनी गणित की किताव के साथ अपने सवाल का उत्तर मिलाती, जाने क्यों हरएक वार उसका सवाल ठीक निकल आता, और विन्दू खीझकर अपनी कापी और कलम मेज़ पर रख देती।

एक वरस और वीत गया। न विन्दू का सवाल कभी गलत हुआ और न वह सुरेन्द्र के पास अपनी कापी लेकर सवाल समझने गई। एक दिन विन्दू ने सुना कि आज सुरेन्द्र खेलते हुए गिर पड़ा था, उसकी टांग में से वहुत खून वहा था और उसके घर पर दिन में दो डाक्टर आए थे। विन्दू की मां उनके घर जाकर सुरेन्द्र का हाल-हवाल पूछ आई थी, पर विन्दू को उसने अपने साथ जाने को नहीं कहा था। अगले रोज़ मालूम हुआ कि डाक्टर कहते थे कि उसकी टांग में कोई शीशे का कंकर धंस गया था और अव उसे अस्पताल जाना होगा।

"चांद-से वच्चे की टांग को कुछ हो न जाए। कहते हैं आपरेशन हुआ है।" कोई सप्ताह-भर विन्दू के घर और पड़ोस में वातें होती रहीं। फिर सुरेन्द्र को अस्पताल से ले आए। विन्दू अपने कमरे की खिड़की में से देखती रही—कभी सुरेन्द्र की मां उसे दवाई पिला रही होती, कभी दूध का गिलास दे रही होती, कभी उसकी टांग को धीरे-धीरे दवा रही होती। सुरेन्द्र रात-दिन कम्वल लेकर अपने विस्तरे में पड़ा रहता।

कुछ दिन पश्चात् सुरेन्द्र की टांग पर से पट्टी उतर गई। वह विस्तर से उठकर धीरे-धीरे ज़मीन पर पैर रखने लग गया, और विन्दू ने देखा कि उसकी वाईं टांग ज़रा-सी दवने लग गई थी। सुरेन्द्र का स्कूल जाना वन्द हो गया था, वैसे एक अध्यापक घर पर आता था और सुरेन्द्र अपने विस्तर में वैठकर कितने-कितने घण्टे पढ़ता रहता था। फिर विन्दू ने सुना कि डाक्टर कहते हैं, अभी कुछ वरस

सुरेन्द्र की टांग में थोड़ा-सा लंगड़ाव रहेगा। जब वह और बड़ा हो जाएगा, शक्ति आ जाएगी, फिर उसकी टांग ठीक हो जाएगी।

बिन्दू अब स्कूल में तिजारत के सवाल करने लग गई थी। जाने क्या हुआ कि बिन्दू पूरे ध्यान से सवाल निकालती, पर उसका सवाल गलत हो जाता—हरएक सवाल वह फिर निकालती, वह फिर गलत हो जाता। और फिर एक दिन बिन्दू ने मां से कहा कि अगर वह कहे तो वह जाकर सुरेन्द्र से सवाल समझ आए।

सुरेन्द्र के स्कूल जाने और खेलने के सारे अरमान खतम हो गए थे। उसका एक काम रह गया था कि वह बिस्तर में बैठकर घण्टों पढ़ता रहता था। और फिर जब बिन्दू उससे सवाल समझने के लिए आने लगी तो उसका दूसरा काम हो गया, बिन्दू को पढ़ाना। रोज़ बिन्दू इन्तज़ार में रहती कि वह कब पढ़ने जाएगी और रोज़ सुरेन्द्र इन्तज़ार में रहता कि वह कब पढ़ने आएगी। फिर दोनों जैसे-जैसे बड़े होते गए, उनकी इन्तजार भी बड़ी होती गई।

बिन्दू के माथे पर से कटे हुए बालों की झालर अब उतर गई थी। उसके बाल अब लम्बे और रेशमी हो गए थे, उनपर जवानी ने अपनी भावुकता की रेशमी झालर बांध दी और बिन्दू पहले से भी सुन्दर लगने लग गई। मां उसे लाड़ से बिन्दी कहा करती थी। और स्कूल की अध्यापिकाएं भी उसे प्यार के साथ बिन्दी नाम से ही पुकारा करती थीं—और अब सुरेन्द्र भी जाने अपने होंठों में क्या भरकर उसे बिन्दी कहने लग गया था।

फिर बिन्दू ने सुना, सुरेन्द्र ने सुना कि अब बिन्दू की शादी होने-वाली थी। माता-पिता ने बिन्दू के लिए कोई बहुत अच्छा लड़का ढूंढ़ लिया था। सुरेन्द्र ने बिन्दू की आंखों के सारे आंसू चूम लिए, पर कहा, "बिन्दी ! मेरे पास तुझे देने के लिए क्या है ? मेरी तो टांग भी शायद उम्र-भर ठीक न हो, कहां से मैं कमाऊंगा, कहां से तुझे खिलाऊंगा, तू कहीं शादी करके सुखी हो जा।"

"नहीं, सिन्दी ! यह तिजारत का सवाल मुझे नहीं आता।"

विन्दू ने कहा, और फिर लोगों ने सुना कि जिस रात विन्दू की वरात आई, उस रात विन्दू सुरेन्द्र के साथ कहीं चली गई। शादीवाले घर की ढोलक फट गई। हलवाइयों ने भट्ठी की आग पर पानी छिड़क दिया और विन्दू की मां ने अपने सिर पर ले रखे शकुन-दुपट्टे को रो-रोकर फाड़ दिया।

विन्दू मां होनेवाली थी। उसके सुरेन्द्र ने एक वड़े शहर में एक सावुन के कारखाने में नौकरी ढूंढ़ ली थी, और विन्दू ने अपने तंग से घर को अपने विशाल दिल से खुला वना लिया था।

कभी-कभी विन्दू एक मिन्नत के साथ सुरेन्द्र से कहती, "मेरे साथ वाकायदा शादी तो कर ले सिन्दी, मेरे माथे पर एक टीका तो लगा छोड़, कल लोग मुझे तेरी रखेल कहेंगे, तेरी पत्नी कोई नहीं कहेगा—और साथ ही अव..."

आगे सुरेन्द्र जान जाता था कि विन्दू क्या कहेगी, विन्दू का शरीर दिन-दिन भरा जा रहा था, पर जाने क्यों वह हरएक वार उसकी वात को टाल देता था, वात खो जाती थी। और फिर विन्दू स्वयं ही कह छोड़ती थी, "अच्छा, सिन्दी, अपना माथा भी मैं हूं, और अपना टीका भी मैं—जैसे तेरी इच्छा !..."

फिर सुरेन्द्र ने एक वड़ा-सा घर ले लिया। चीजें कहीं समाती नहीं थीं। रोज़ वह कोई नई चीज़ खरीद लेता था। विन्दू हैरान थी, पर सिन्दी उसे कहा करता था कि उसकी नौकरी वड़ी हो गई है, उसकी और तरक्की हो गई है। कारखाने के मालिक ने अपने काम में उसका हिस्सा रख लिया है। अव उसे सव छोटे शाहजी कहते हैं—और विन्दू हक्की-वक्की रह जाती थी कि अगर सचमुच ही उसकी किस्मत ने अपना दिल खोलकर दे दिया था तो उसके मन में कुछ सिकुड़ता क्यों जाता था। सुरेन्द्र वड़ी नर्म-नर्म वातें किया करता था, और अव उसकी वातों में सिलवटें क्यों पड़ने लग गई थीं।

विन्दू के घर वेटा जन्मा। विलकुल सुरेन्द्र का रूप था। वह जव अपने वेटे का मुंह ताकती, उसे लगता जैसे सुरेन्द्र ने अपनी आकृति

की सारी अमानत अपने वेटे की प्रतिमा में डालकर उसे दे दी थी और स्वयं अब खोया जा रहा था। दिल के पल्ले को विन्दू जैसे-जैसे थामती, उसके हाथ से वह फिसलता जाता।

वेटे के नामकरण के लिए सुरेन्द्र ने बड़ा कुछ किया। अपने दोस्तों और अपने कारखाने के लोगों को उसे ऐसी दावत देनी थी कि—वह कहता था—लोग सदा याद रखेंगे। सुरेन्द्र ने एक गानेवाली को लखनऊ से बुलाया। विन्दू ने कोई एतराज़ नहीं किया। पर उसने उड़ती-उड़ती-सी वात सुनी कि उसका सुरेन्द्र इसी शहर की एक गानेवाली के पास जाने लगा था, और वह सोचने लग गई कि हो सकता है कि वह वही गानेवाली हो, और उसीको बुलवाने के लिए ये सारी दावतें थीं। पर उसने कहा कुछ नहीं। फिर दावत के दिन जब वह गानेवाली आई और मर्दों की अलग महफिल में तीन घण्टे गा चुकी, तो फिर जाते समय विन्दू को—घर की मालकिन को, सुरेन्द्र के वेटे की मां को—वह सलाम कहने के लिए आई। विन्दू ने उसे पचास रुपये इनाम के दिए। वह रुपये लौटाते हुए कहने लगी, "क्यों तकलीफ करती है शाहणी, तेरे घर का तो मैं रोज़ खाती हूं, तेरे शाह से मैं रोज़ लेती हूं।" तो विन्दू को लगा कि आज किसीने हाथ में पत्थर पकड़कर ... गौरव को चोट लगाई थी। उसने जो अफवाहें सुनी थीं, वे सच ...। ये दावतें उसके वेटे के लिए नहीं थीं, ये···पर विन्दू ने दिल की सारी टीस पी डाली और सिर ऊंचा करके कहने लगी, "खूब ले ज़ीनते! शाह से तो तू नित्त लेती है, पर मुझसे तुझे कब-कब लेना है।" और विन्दू ने पचास रुपये के नोट रद्दी कागज़ की तरह मोड़कर ज़ीनत की झोली में डाल दिए।

जब लोग चले गए, विन्दू अपने सुरेन्द्र के पहलू में सिर रखकर रोई, "तूने मेरे साथ क्या किया सिन्दी!"

"तुझे किसी वात की कमी है? तेरे पास घर है, वेटा है, मैं दुनिया का सारा सुख तेरे कदमों में ला रखता हूं।···" सिन्दी ने कितनी देर वाद कहा और फिर विन्दू का रोना गज़ब ढाने लगा, "तुझे

लेकिन मैं तुझ को क्या कहूँगी ? यह निजात का इनाम मुझे नहीं चाहिए, बिन्दी, मुझे नहीं चाहिए !"

कुछ ही महीने गुज़रे थे, जब एक दिन दुपहर के समय कारखाने का एक आदमी बिन्दू के घर पर आया, और उसने बताया कि आज सवेरे कारखाने के मालिक ने पुलिस को बुलाकर सुरेन्द्र को हथकड़ी पहनवा दी है। कहते हैं, उसने मालिक के व्यापार में से हज़ारों का ग़बन कर लिया है।

बिन्दू के मुंह पर चिरकाल से होनी के काले पंखों की परछाईं पड़ रही थी, आज उसने उन पंखों को अपने मुंह पर झपटते हुए देख लिया; वह परछाई से भयभीत होती रही थी, आज उसमें रोष भर गया। उसने दोनों हाथों से भींचकर उन पंखों को तोड़ देना चाहा। वह उठकर सीधी कारखाने के शाह के पास चली गई। उसकी एक ही मिन्नत थी कि उसे एक बार सुरेन्द्र के साथ मिला दिया जाए। कारखाने के मालिक ने—बड़े शाह ने—उसे हवालात में उसके मित्र के साथ मिला दिया।

बिन्दू को सुरेन्द्र के मुजरिम होने में कोई सन्देह नहीं था, लेकिन फिर भी वह एक बार सुरेन्द्र के मुंह से सुनना चाहती थी, और सुरेन्द्र ने सिर नीचा करके अपना सारा जुर्म बिन्दू के आगे रख दिया। और आखिर यह बात कही, "अब मेरे छूटने की कोई राह नहीं, तू जितना रुपया ले जा सकती है, लेकर कहीं चली जा। मुझे अपनी मौत मरने दे।"

जाने बिन्दू के दिल में क्या-क्या आया, पर उसने कुछ नहीं कहा और लौटकर कारखाने के मालिक के पैरों पर गिर पड़ी, "शाह, तू अपनी सारी पूंजी लौटा ले, मेरे भरे-पूरे घर को नीलाम कर दे, मैं तीन वस्त्रों में तेरे शहर से चल दूंगी, पर सुरेन्द्र को छोड़ दे।"

मालिक ने हंसी छोड़ी। जाने कितनी देर बिन्दू [illegible] और जब होश में आई, उसे लगा जैसे वह [illegible] रही थी, उसके जिस्म से वस्त्र उतरे हुए थे, और

मालिक के मोटे-मोटे बाज़ू किसी जानवर के पंजों की भांति गड़े हुए थे। उसने सारी शक्ति बटोरी, पर किनारा कहीं नहीं था। नदी का पानी उसे डुबकियां दे रहा था। "सिंदी ! सिंदी !" उसने आवाज़ें दीं। शराब की नदी में एक बड़ी ऊंची और भयानक हंसी की लहर आई, "अगर मैं तेरे सिन्दी को जेल से छुड़ा लूं ?"

बिन्दू के अंगों में एक हौसला भर गया, "तू सिन्दी को जेल से छुड़ा लेगा ?"

शराब की उसी नदी में से हंसी की एक और ऊंची और भयानक लहर आई, "मैं सिन्दी को जेल से छुड़ा दूंगा।" और बिन्दू के नंगे जिस्म में किसी जानवर के पंजे और धंस गए। बिन्दू का सारा साहस छूट गया और वह लहरों के सपुर्द हो गई।

रात सिर नीचा करके चली गई। और दिन की सफेद रोशनी में बिन्दू ने देखा कि सुरेन्द्र जेल से छूट आया था और उसके ज्वर से जलते माथे पर बर्फ की पट्टी रख रहा था।

कारखाने के मालिक ने सुरेन्द्र पर से गबन का मुकदमा वापस ले लिया था, पर उसे नौकरी पर फिर से नहीं लिया था। घर का सारा सामान भी उसने उठवा लिया था।

बिन्दू और सुरेन्द्र ने वह शहर छोड़ दिया। और फिर एक दिन ऐसा आया जब बिन्दू को लगा कि वह दिन उसकी किस्मत की काली रात से भी काला था। सुरेन्द्र उसके लिए एक चिट्ठी लिखकर छोड़ गया था, और स्वयं उसे छोड़कर चला गया था। चिट्ठी में लिखा था कि वह अपने लिए न सही अपने नन्हे-से बेटे के लिए अपने माता-पिता का द्वार खटखटा ले। स्वयं वह किसी दूर शहर में अपनी क़िस्मत आज़माएगा। अगर जिन्दा रहा तो लौट आएगा।

बिन्दू के मन में एक टीस उठी कि वह सुरेन्द्र की जिस आशा का धागा हाथ में पकड़े माता-पिता के घर से रिश्ता तोड़कर आ गई थी, आज उस आशा का कच्चा धागा तोड़कर वह किस मुंह से माता-पिता का द्वार खटखटाएगी। पर फिर बिन्दू ने अपने बेटे में से अपने

सुरेन्द्र की आकृति पहचानी और मुहब्बत के टूटे हुए धागे में गांठ डालकर उसने अपनी मां का द्वार खटखटाया।

मां ने अभी विन्दू को जी भरकर उलाहने भी नहीं दिए थे कि विन्दू के जीवन में काली रात-सा एक और दिन उगा। विन्दू का बेटा बीमार पड़ गया। मां के गम से भरे सीने में से उसने जाने कैसा दूध पिया था, एक ज्वर उसकी हड्डियों से चिपट गया और फिर हड्डियों के साथ गया।

उसकी मौत अस्पताल में हुई। विन्दू ने निशानी के रूप में सुरेन्द्र की जो आकृति संभाली थी, जब वह भी खो गई, उसके जीने का कोई अर्थ न रहा और उसके मरने का भी कोई अर्थ न रहा।

जिस अस्पताल में विन्दू ने अपना बेटा खोया, वहां और भी कितने बच्चे बीमार थे। विन्दू उनके मुंह की ओर देखने लग गई—देखती रही, देखती रही—और फिर थोड़े दिनों बाद लोगों ने देखा कि विन्दू ने नर्स के सफेद वस्त्र पहन रखे थे, और वह उसी अस्पताल में बीमार बच्चों के पास खड़ी थी।

पहले विन्दू ने मां का घर मां से कुछ कहे बिना छोड़ा था, अब उसने मां से कहकर छोड़ दिया। अस्पताल की एक बड़ी नर्स के घर, एक कमरे में उसने अपना ठिकाना बना लिया और अपने दिन—अपनी रातें अस्पताल के सुपुर्द कर दीं।

बरसों बीत गए। अपने लिए जीने का कोई अर्थ नहीं रहा था, पर जब विन्दू को दूसरों के लिए जीना आ गया, उसके जीने के शब्दों में फिर से अर्थ भर गए। जितने बजे विन्दू को आना होता था, बीमारों की आंखें द्वार की ओर लग जातीं थीं और उनके मुंह पर सेहत की एक रोशनी-सी आ जाती थी।

हां, जिस दिन विन्दू के भाई ने अखबार में से पढ़कर बताया कि पुलिस ने कानपुर में एक घर पर छापा मारा था, कुछ लोग जाली सिक्के बनाते हुए पकड़े गए थे, और जो पकड़े गए थे, उनमें एक सुरेन्द्र भी था, सिर्फ उस दिन अस्पताल के रोगियों ने देखा कि आज

उन्हें थर्मामीटर लगाती बिन्दू के हाथ कांप रहे थे।

जिस बड़ी नर्स ने बिन्दू को सहारा दे रखा था, वह बड़े मीठे दिलवाली ईसामसीह में विश्वास रखनेवाली स्त्री थी। बिन्दू के कांपते ठंडे हाथों को अपने हाथों में लेकर उसने परमात्मा के आगे प्रार्थना की और उसके मन की शांति मांगी। दिनों के अभ्यास से बिन्दू का ध्यान प्रार्थना में जुड़ने लग गया। बिन्दू जब एक रोगी की खाट के पास खड़ी होकर दूसरे रोगी की खाट के पास जाती, पहली खाट-वाले रोगी को लगता कि वह जाते समय उसकी पीड़ा के कांटे भी बीनकर ले गई है। इस तरह फूल बांटती और लोगों के कांटे बीनती बिन्दू जब एक रात अस्पताल से लौटकर अपने कमरे में सोने के लिए गई, उसने देखा कि कोई आदमी उसके दरवाज़े पर बैठा हुआ था। उसने आवाज़ दी, पर उत्तर नहीं मिला। शायद वह आदमी बैठे-बैठे ऊंघने लगा था। बिन्दू ने हाथ के लैम्प को समीप लाकर देखा। मुंह पहचाना नहीं जाता था। हड्डियों के पिंजर पर थोड़ा-सा मांस था। गिर्द एक मैला-सा कम्बल था।

लैम्प की रोशनी में उस आदमी ने चौंककर आंखें खोलीं, 'बिन्दी!"

बिन्दू के कानों को सुरेन्द्र की आवाज़ सुनाई दी और फिर जैसे कानों में जम गई। आवाज़ में जाने कैसा सिक्का ढला हुआ था, बिन्दू को लगा कि यह सिक्का उसके रोएं-रोएं में जम गया था, और वह जहां पर खड़ी थी, वहीं खड़ी रह जाएगी।

"बिन्दी! बिन्दी! बिन्दी!" रुक-रुककर आवाज़ें सुनाई दीं। जिस आवाज़ ने बिन्दू के अंगों में सिक्का भरा था, वही आवाज़ उस सिक्के को ढालने लग गई। जाने किस समय बिन्दू के अंगों में शक्ति आई और उसने सुरेन्द्र को अपने हाथों का सहारा दिया। सुरेन्द्र जब भी अच्छा हो जाता था, उसकी टांग पूरा बोझ झेलने लग जाती थी। जब भी कहीं ज़रा कमज़ोर हो जाता था, उसकी टांग लड़-खड़ाने लग जाती थी। अब तो सुरेन्द्र हड्डियों का पिंजर-मात्र रह

गया था, उसकी टांग लड़खड़ाती थी। विन्दू ने अपने कंधे का सारा सहारा उसे दे दिया और अपना कमरा खोलकर जब उसे अपनी खाट पर लिटाया, उसने विन्दू का हाथ पकड़कर अपने आंसुओंवाले मुंह पर रख लिया, "लोग कहते हैं, अब तुझे शांति मिल गई है, मैं फिर आकर तुझे दुःखी कर दूंगा। पर मैं कहां जाऊं ? किसी दूसरे के दरवाज़े के आगे तो मैं मर भी नहीं सकता !"

मुसीबतों के सारे बरस जाने कहां चले गए। विन्दू को लगा मानो पन्द्रह बरस का सुरेन्द्र टांग पर पट्टी बांधकर खाट पर लेटा हुआ था, और वह बारह बरस की विन्दू उसकी खाट के पास खड़ी होकर उसे कह रही थी, 'मुझे तिजारत का सवाल नहीं आता !'

और फिर नन्हे-से हाथ से जब वह सुरेन्द्र के आगे कापी रखने लगी, सुरेन्द्र ने उसका हाथ पकड़ लिया, जैसे हमेशा पकड़ लेता था। विन्दू चौंक गई, बड़े-बड़े हाथों ने विन्दू का हाथ पकड़ा हुआ था, और सुरेन्द्र कह रहा था, "सच, विन्दू मैंने अच्छा नहीं किया, मैं फिर तेरे पास लौट आया हूं। मुझे लगा था कि मैं तुझसे दूर रहकर मर भी नहीं सकता, मैं तेरी शांति भंग कर दूंगा।..."

विन्दू ने जल्दी से सुरेन्द्र के होंठों पर अपने हाथ रख दिए, "सिन्दी, तुझे खोकर मैं कौन-सी शांति ढूंढूंगी ? यह तिजारत का सवाल ही तो मुझे आता नहीं। यह सवाल मुझे कभी नहीं आएगा।"

विन्दू के माथे पर कटे हुए बालों ने छोटी-छोटी एक झालर बांध दी थी, काली झालर में उसका गोरा मुखड़ा और गोरा हो गया था। फिर जवानी ने भावना की रेशमी झालर उसके माथे पर बांध दी थी। और विन्दू पहले से भी सुन्दर दीखने लग गई थी। और आज जब विन्दू ने गरीबी, बीमारी और गुनाहों के सताए हुए सुरेन्द्र के माथे पर अपना मुंह रखा, शांति ने अपनी सफेद किरणों की झालर उसके माथे पर लगा दी, और विन्दू पहले से कहीं बढ़कर सुन्दर लगने लग गई।

पराया प्रेम

बलराज चित्रकार नहीं था, पर उसने प्रेम की कल्पना को एक तूलिका की भांति अपने हाथों में पकड़ रखा था। जब वह शीशे के आगे खड़ा होता, तो अपने अंगों की भरी-पूरी जवानी उसे प्रकृति के दिए हुए उस खाके की तरह लगती थी, जिसमें उसका दिल चाहता था कि वह दुनिया के सबसे सुन्दर रंग भर दे, वह मर्द का एक प्रतिनिधि चित्र बन जाए, प्रकृति के हाथों बना हुआ, मनुष्य के हाथों निर्मित।

उसके सुडौल अंगों की चर्चा उसके बचपन से चल पड़ी थी। जैसे-जैसे वह बड़ा होता गया, चर्चा भी बढ़ती गई। यह चर्चा उसके घर के आंगन में से उसके अड़ोस-पड़ोस तक चली गई, फिर स्कूल में भी उसके साथ बैठती रही, फिर कालेज में से गुजरती, उसके दोस्तों की महफिलों में होती हुई, अब उसके बड़े सरकारी विभाग के कमरे में फैल गई थी। अपने विभाग में वह शुरू से ही एक बड़ा अफसर नियुक्त हुआ था। उससे बड़ी उम्र और अनुभववाले उसके अधीन थे। पहले-पहल वह भयभीत भी हुआ था कि वह न जाने कितने लोगों की ईर्ष्या का शिकार होगा, पर जाने उसके मुंह पर कौन-सी मर्दानगी थी, उसकी आवाज़ में कौन-सा माधुर्य था, और उसके व्यवहार में कौन-सी परख थी कि किसी भी ईर्ष्या ने दहलीज़ें लांघकर उसके कमरे में आने का साहस नहीं किया था। निश्चित होकर उसने अपने पद को संभाल लिया। और उसे लगा कि दिन-दिन एक मर्द का प्रतिनिधि चित्र बन रहा था।

उस विभाग में कितनी ही लड़कियां काम करती थीं। कितनी ही बाहरी, कालेजों की और अच्छे घरों की पढ़ी-लिखी तथा कलाकार लड़कियों का उस विभाग से काम पड़ता था। वलराज के सलीके ने उन लड़कियों में, जिनका उस विभाग से वास्ता पड़ता था, जाने कैसा विश्वास जगा दिया था कि वे जब अपनी ज़रूरतें, अपनी शिकायतें और अपने अटके हुए काम के कागज़ लेकर आतीं, तो उन्हें किसी तरह की झिझक नहीं होती थी। विभाग की शोहरत दिन-दूनी हो गई थी।

मर्द का यह प्रतिनिधि चित्र जैसे-जैसे पूर्ण होता गया, वलराज के मन में एक ज़रूरत जागती गई—कोई इसे देखे। कामवाले आते, काम पूरे हो जाते, और फिर वे धन्यवाद के मीठे-मीठे शब्द उसके पैरों के आगे रखकर सम्मान से आंखें झुकाते चले जाते। कोई आंखें उठाकर उसके मुंह की ओर नहीं देखता था, उसके चित्र को नहीं देखता था, जिसमें उसने अपनी मुहब्बत की कल्पना के कई रंग भरे थे।

वरसों वीत गए। वलराज मर्द के इस प्रतिनिधि चित्र को देखता रहा। और फिर उसे लगने लग जाता कि यह चित्र किसीको नहीं चाहिए, किसीको इसकी ज़रूरत नहीं। न किसीके पास इसके लिए आंखें थीं, न किसीके पास इसके लिए कीमत थी, और वह सोचने लग जाता कि ज़िन्दगी की किस दीवार को वह इस चित्र से सजाएगा।

वलराज की मां उससे विवाह के लिए मिन्नतें करती थी। पहले वह सोचा करता था कि वह अपने चित्र का मूल्य आंकनेवाली आंखों का इन्तज़ार करेगा, और वह अपनी मां की मिन्नतें अनसुनी कर दिया करता था, पर अब वलराज का इन्तज़ार घायल हो गया था। उसने मां की मिन्नत को मान लिया।

वलराज की मां ने मनचाहे शकुन किए और लाल कपड़ों में लिपटी हुई एक लड़की उसके पास लाकर खड़ी कर दी।

लाल कपड़ों में लिपटी हुई लड़की ने जब मुंह प   कपड़ा हटाया,

बलराज देखता रह गया—वह लड़की ऐसी थी जैसे सफेद रेशम का एक नाजुक-सा तार हो, और जिसे हाथ लगाते भय लगता हो कि कहीं वह टूट न जाए।

बलराज के मुंह से हां निकलती, वह लड़की हां कर देती। बलराज के मुंह से न निकलती, वह लड़की न कर देती। बलराज का अपना-आप छलकता था, सब कुछ उसके सपुर्द करने को, उसका दिल चाहता था"'कि वह लड़की कभी उससे सब कुछ मांग ले। जो कुछ वह देता था, उसे पता नहीं चलता था कि वह उस लड़की को मंजूर है या नहीं। जो कुछ वह नहीं देता था, उसका भी उसे पता नहीं चलता था कि उस लड़की को उसकी शिकायत है या नहीं। और फिर बलराज को धीरे-धीरे लगने लगा कि उसने मुहब्बत की कल्पना से जो चित्र बनाया था, उसके लिए न कोई फ्रेम था, और न कोई दीवार थी।

अपनी बीवी, जो बलराज को सफेद रेशम का नाजुक-सा तार लगी थी और जिसे हाथ लगाते हुए वह भय खाता था कि कहीं वह टूट न जाए—वही तार उसके हाथों को लासें डाल रहा था, पर झुकता नहीं था।

वह एक कौर तोड़ता और खाने की भरी हुई मेज़ पर से उठ बैठता, उसकी बीवी कभी न कहती कि उसने खाना क्यों नहीं खाया। वह 'ज़रा बाहर जा रहा हूं' कहकर जाता और आधी रात में लौटता। उसकी बीवी कभी न कहती कि वह कहां गया था।

चांद होते-होते अमावस पर आ जाता और फिर बढ़ते-बढ़ते पूनम पर जा पहुंचता। बलराज कभी बीवी को न बुलाता और वह कभी न पूछती कि उसके मन में क्या है।

फिर बलराज ने देखा कि प्रेम की कल्पना से उसने जो चित्र बनाया था, वह चित्र उठाते हुए उसके हाथ दर्द करने लग गए थे। वह सोचता, वह कहां-कहां इस चित्र को ले-लेकर जाएगा, वह कितनी देर इस चित्र को उठाए फिरेगा।...

एक दिन सामने पड़े पत्र में एक फिल्म का इश्तहार था। फिल्म नेपोलियन के जीवन से सम्बन्धित थी, और इश्तहार में लिखा था—"जोसेफिन से पहले नेपोलियन की ज़िन्दगी में डैज़िरी थी, और कई कहते हैं, वह हमेशा के लिए थी।" बलराज के मन में एक टीस उठी—नेपोलियन ने बेशक कितनी ही बार ज़िन्दगी में मुहब्बत की हो, पर उसकी एक मुहब्बत ऐसी थी, जो सारे समय के लिए थी। और वह भले ही दुनिया का कितना भी बड़ा विजयी हो, एक स्थान ऐसा था, जहां उसका फैसला सिर झुका देता था।...पर...उसका अपना चित्र कैसा था, जिसे कभी किसीने एक बार भी नहीं देखा था, एक बार भी नहीं मांगा था।

बलराज की अपनी ज़िन्दगी में कोई डैज़िरी नहीं थी, वह खाली मन के साथ नेपोलियन की डैज़िरी देखने 'प्लाज़ा' चला गया।

टिकटवाली खिड़की के पास आज फिर उसने उस पतली, सांवली और मुरझाई-सी लड़की को देखा, जो उसके अपने विभाग में टाइपिस्ट थी। उसके विभाग में बहुत-सी टाइपिस्ट लड़कियां थीं, पर वह लड़की सबसे कम सुन्दर थी और सबसे बुरी शोहरतवाली थी। अपने आफिस के बहुत से आदमियों को उसने इस लड़की के साथ घूमते हुए देखा था—किसीके साथ वह फिल्म देखती, किसीके साथ वह चाय पीती, किसीके साथ वह बाग में चली जाती और किसीके साथ दुकानों से चीज़ें खरीदती। बलराज जब भी उसे कहीं देखता था तो औरत-सम्बन्धी जो धारणा उसके मन में थी, उसे लगता था कि यह लड़की अपने लम्बे-लम्बे नाखूनों से उस धारणा को खरोंच डालेगी। और वह जल्दी से अपनी धारणा को संभालकर आगे चल देता था। आज भी बलराज ने जल्दी से उसकी नमस्ते का जवाब दिया, और ध्यान अलग करके अपनी टिकट ली। आज बलराज के पास छोटे नोट नहीं थे और सौ के नोट का बकाया लेने के लिए न जाने उसे कितनी देर खिड़की के पास खड़े रहना पड़ा। जब बलराज ने बकाया नोट लिए, तो फिल्म शुरू हो चुकी थी। जल्दी से जाते समय उसने

देखा, वह लड़की अब भी खिड़की की बाईं ओर खड़ी हुई थी। पहले से भी अधिक मुरझाई हुई। शायद किसीका इन्तज़ार कर रही थी, और उसे यहां बुलानेवाला, उसका टिकट खरीदनेवाला अभी आया नहीं था।

"तुमने टिकट नहीं ली ?" जाने क्यों बलराज उससे पूछ बैठा।

"रमेश ने कहा था आने के लिए। जाने क्यों वह आया नहीं। पहले भी उसने मुझे एक बार ऐसे ही तंग किया था।"

"तुम्हें टिकट लेनी है तो ले लो, मैं पैसे दिए देता हूं।"

लड़की ने घबराहट में बलराज की ओर देखा। उसे पता न चला कि उसके साहिब ने उससे मज़ाक किया है या सच ही कहा है।

बलराज ने पैसे दे दिए, और टिकट लेकर उस लड़की को पकड़ा दी। उसकी सीट बलराज के साथ की सीट थी।

नेपोलियन के प्यार की कहानी शुरू हुई, फिर नेपोलियन के युद्ध की कहानी शुरू हुई। राजनीति के खेल में प्यार के खेल को अलग रखना ज़रूरी था; नेपोलियन ने रख दिया। वह धरती को जीतता गया। उसके सिपाही उसके लिए जान पर खेलते गए, पर जिस एक धरती को वे जान पर खेलकर भी नहीं जीत सकते थे, वहां से लौट जाने के लिए वे नेपोलियन को कहना चाहते थे। किसीमें कहने का साहस नहीं था, पर उन्हें मालूम था कि अगर राजनीति के इस खेल की ओर से कोई नेपोलियन का ध्यान मोड़ सकता था, तो वह उसके पहले प्यार का सम्बन्ध था। लोगों ने अपने देश और देशवासियों के सम्पर्क से उस लड़की को नेपोलियन के पास भेजा और जब उस लड़की ने नेपोलियन से कहा कि वह अपने सिपाहियों को मरने से बचा ले, और इस धरती से पैर पीछे लौटा ले, तो नेपोलियन मान गया। वह उस लड़की की बात न टाल सका, जिसे कभी उसने पूरे मन से प्यार किया था।

फिल्म खतम हुई। अंधेरे के नर्म जिस्म पर बिजली की रोशनी चुभने लगी और बलराज ने चौंककर देखा—उसकी बाईं ओर की

सीट पर एक पतली, सांवली और मुरझाई-सी लड़की बैठी हुई थी। बलराज को स्मरण हो आया कि यह लड़की उसके विभाग में काम करती है—और फिर उसे याद आया कि आज उसने उस लड़की को इस फिल्म की टिकट खरीदकर दी थी।

बलराज जब बाहर आया, वह लड़की भी उसके साथ बाहर आ गई। बलराज जब अपनी गाड़ी में बैठा, तो तरस खाकर उसने कहा, "चलो मैं तुम्हें तुम्हारे घर छोड़ आऊं?"

एक्सिलेटर पर पैर रखते हुए बलराज को लगा कि वह थकान महसूस कर रहा है—बेहद थका हुआ है। बरसों से रेगिस्तान में वह चिरकाल से चल रहा था। अब उससे हाथों में वह चित्र भी नहीं उठाया जा रहा था, जिसपर उसने अपनी कल्पना के सारे रंग लगा छोड़े थे।

जाने किस समय बलराज के हाथों की पकड़ ढीली पड़ गई, और उसे पता न चला कि वह चित्र कहां रख दिया गया, कैसे रख दिया गया। रेत में धंसे जा रहे उसके थके पैरों को लगा कि पास ही कोई वृक्ष था, कोई थी···और उसने अपना हाथ उस वृक्ष पर डाल दिया।

फिर होश में आकर बलराज ने देखा, उसका बायां बाज़ू लड़की की पीठ के गिर्द था, और उस लड़की की सांस उसके कन्धे में घुल रही थी—और उस लड़की के बाज़ू एक रस्सी की तरह उसके शरीर से लिपटे हुए थे। बलराज को लगा, रेगिस्तान में चलते-चलते जो वृक्ष उसने देखा था, वह कांटों की एक झाड़ी थी, और अब उसके गले की कमीज़ उन कांटों में उलझी हुई थी, और उसके शरीर में सौ-सौ कांटे चुभे हुए थे। फिर बलराज को लगा, उसके हाथ में चित्र था—मर्द का प्रतिनिधि—और उसे वह पराये फ्रेम में जड़ रहा था।

रेगिस्तान में चलते हुए बलराज ने अपने पैरों की शक्ति को बटोरा, कांटों में अटकी हुई अपनी कमीज़ को उतारा, अपने शरीर से कांटे निकाले, जितना मूल्य किसीने मांगा, दे दिया, और अपने हाथों का चित्र संभालकर आगे चल दिया।

वलराज फिर एक दिन रेगिस्तान की रेत छानता थक गया, उसके हाथों की पकड़ ढीली पड़ गई, उसका चित्र कहां रखा गया, कैसे रखा गया, उसे पता न चला—और रेत में धंसते उसके शिथिल पैरों को लगा कि पास ही कोई वृक्ष था, कोई ठौर था—और फिर जब उसे होश आया, उसने देखा, उसके गले की कमीज़ कांटों में अटकी हुई थी, उसके जिस्म पर सौ-सौ कांटे चुभे हुए थे और उसके हाथों में जो चित्र था—मई का प्रतिनिधि चित्र—उसे वह पराये फ्रेम में मढ़ रहा था।

गर्मी की एक रात थी। तारों के आलोक के नीचे वलराज और उसकी वीवी अपनी कोठी के वगीचे में सोए पड़े थे। हवा तीखी हो गई, और तीखी, और फिर आंधी वन गई। हवा की फुंकार ऐसी थी कि आदमी को अपनी आवाज़ भी सुनाई नहीं पड़ती थी। अंधेरे का रंग ऐसा था कि आदमी को अपना हाथ भी दिखाई नहीं पड़ता था। इर्द-गिर्द की दीवारों को जैसे कोई नींव से हिला रहा था। चारपाइयों को अपने भार से अपने स्थान पर रखना भी मुश्किल हो गया था। पर वलराज ने मोटी चद्दर को अपने गिर्द लिपटाए रखा और उसी तरह खाट पर पड़ा रहा। आंधी उसकी चद्दर की किनारी खींचती रही, और वह किनारी को फिर-फिर से अपने नीचे दवाता रहा। एक वार जव वह चद्दर की किनारी दवाने लगा, पतली, नर्म अंगुलियां उसके हाथों को छू गईं। उसकी वीवी के नाज़ुक हाथों ने उसकी खाट के पाये को पकड़ रखा था और वलराज ने देखा, वह ज़मीन पर पैरों का सहारा लिए उसके सिरहाने की ओर वैठी हुई थी। वलराज ने उसकी वांह को सहारा दिया और वह कांपती हुई वलराज की खाट पर आकर वलराज के गले से चिपट गई। रो-रोकर उसका मुंह भीगा हुआ था। वलराज ने जव कितनी ही वार उससे पूछा कि क्या हुआ है, तो उसने धीमे से कहा कि उसे आंधी भयभीत कर रही है, और फिर वह और भींचकर वलराज के गले से लिपट गई।

वलराज की वीवी का जो संयम रात को आंधी ने तोड़ा था, वह

दिन की शांत हवा ने उसे फिर से वापस लौटा दिया। वह फिर पहले जैसी ही हो गई और बलराज को लगा, उसकी बीवी का सब्र पत्थर की दीवार थी, जो किसी सितम के हथियार से नहीं टूट सकती थी।

बलराज का झूठ कहने को दिल नहीं चाहता था, पर उसे क्रोध आता था कि उसकी बीवी उसके झूठ की ओर क्यों नहीं देखती। इसीलिए वह हर रोज़ झूठ बोलता था। पहले से भी बड़ा झूठ बोलता था—और एक रात बलराज ने अपनी बीवी के आगे फिर झूठ बोला कि उसके विभाग के एक बड़े अफसर की बदली हो गई है और उसने अपने विभाग के दोस्तों को अपने घर दावत पर बुलाया है, इसीलिए वह देर से आएगा। और बलराज अपने आफिस की टाइपिस्ट लड़की को अपने साथ लेकर कोई फिल्म देखने चला गया।

जब कभी बलराज को ऐसे फिल्म देखनी होती थी, वह शहर के अच्छे रौनकवाले स्थानों पर नहीं जाया करता था। उस दिन उसे अपना चेहरा गलीज़ लगता था और वह अपने मुंह पर किसी भी जानकार की आंख नहीं पड़ने देना चाहता था। इसीलिए उस रात वह शहर से बाहर सैनिकों के लिए बने हुए कनातों के एक सिनेमा-घर में चला गया।

थोड़ी-सी फिल्म चली थी कि तभी आंधी आ गई। कनातें कांपने लग गईं। बलराज ने अपना ध्यान फिल्म की तरफ मोड़ने की बहुत कोशिश की पर वह उखड़ने लग गया। आखिर उसने साथ की कुर्सी पर बैठी टाइपिस्ट लड़की का हाथ पकड़ लिया, पर उसे लगा, उस लड़की के हाथ में से उसके हाथों को हज़ारों कांटे चुभ रहे हैं, और औरत की जो कल्पना उसके मन में थी, उसे लगा, वह लड़की अपने लम्बे-लम्बे नाखूनों से उसे अभी खरोंच देगी। कनातें और कांप गईं। बलराज ने उस लड़की का हाथ छोड़ दिया, और उसे लगा कि उसकी कोठी में अकेली बैठी उसकी बीवी के गिर्द उस कोठी की दीवारें कांप रही थीं। उसकी बीवी भयभीत हो रही थी। उसके नाज़ुक, नर्म हाथों ने उसकी खाली खाट के पाये को ज़ोर से पकड़

लिया था, और उसका मुंह रो-रोकर भीग गया था।

बलराज को पता ही न चला कि वह किस समय कुर्सी पर से उठ बैठा, उसने कितने नोट उस टाइपिस्ट लड़की को दिए, और कितनी तेज़ी से गाड़ी चलाता हुआ अपने घर लौट आया।

उसकी बीवी सचमुच ज़मीन पर पैरों का सहारा लिए बैठी हुई थी, और अपने पति की खाली खाट के पाये को अपने कांपते हाथों से पकड़े हुए थी, और उसका मुंह रो-रोकर भीग गया था। वह सफेद चमकता तार हाथ को लासें डाल रहा था, पर झुकता नहीं था। एक रेशम के तार की तरह वह बलराज की बांहों में गुच्छा हो गई, और रोते हुए कहने लगी, "मुझे अकेली छोड़कर न जाया करो, अपने साथ ले जाया करो।"

और बलराज को लगा, यह वही तार था—नर्म भी और कड़ा भी—जो उसके चित्र के इर्द-गिर्द लग सकता था, जो उसके चित्र के लिए दीवार बन सकता था।

बलराज ने अपनी बांहों में रेशम के तार की भांति गुच्छा हुई अपनी बीवी को अपने हृदय से लगा लिया और अपनी बीवी के कानों में उसका सारा दिल धड़क उठा, 'औरत की जो कल्पना मेरे मन में है, उसे किसीके लम्बे-लम्बे नाखूनों की खरोंच से बचा ले—और मर्द का जो चित्र मैंने कल्पना के कई रंगों से बनाया है, उसे पराये फ्रेम में से उतार ले।...'

○ ○ ○